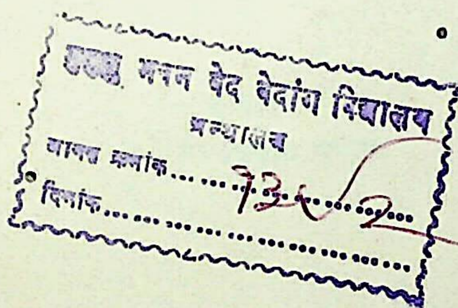
अनूठी कहानियाँ

संपादक : वाचस्पति पाठक

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटानें पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।



अच्छी कहानियाँ



अच्छी कहानियाँ

सम्पादक

श्री वाचस्पति पाठक

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद—१ द्वारा प्रकाशित

संस्करण १९७८

मूल्य : ६.००

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

कहानी का क्रम

———



प्रारम्भिक

क्रम

कहानी कहने की परम्परा व्यावहारिक दृष्टि से अनादि है। मनुष्य का जीवन सहज ही घटना और कार्य-संकुल है। साथ-साथ स्वयं को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति भी शाश्वत और चिरन्तन है। ज्यों ही आदिम मानव ने कोई पराक्रमपूर्ण प्रशंसनीय अद्‌भुत कार्य किया होगा त्यों ही उसे अपने प्रतिवेशी को सुना देने को भी सहज ही आकुल हो उठा होगा। उसकी इसी आन्तर आकुलता में उसकी भावी कला प्रच्छन्न रूप में निहित थी उसने अपने सहवासी को अपनी बात सुनाई होगी और वहीं से कहानी कहने सुनाने की परम्परा चल पड़ी होगी।

कहानी कहने की प्रेरणा

कहानी कहने की प्रेरणा मानव ने निश्चित ही अपने जीवन के यथार्थ से पाई होगी। वह भावुक रहा होगा और उसकी बुद्धि आज के बुद्धिवादी मानव से बहुत पीछे रही होगी। तर्क करना वह नहीं जानता होगा। इसलिए अद्‌भुत चमत्कारों की कल्पना में निरत होना स्वाभाविक था। उसकी आँखों में सृष्टि के प्रति, निस्सीम आकाश और उसमें स्थित नक्षत्रों और ग्रहों के प्रति, प्रांशु पर्वत-शृंखलाओं, अपरिसीम विस्तारवाले सागरों और सतत प्रवहमान नदियों के प्रति, एक अतल विस्मय जगा होगा। उसने इन सब को एक रहस्य और विस्मय की दृष्टि से देखा होगा। उसे इन सबके पीछे एक परोक्ष दैवी सत्ता का आभास हुआ होगा। उसी विस्मय से प्रेरित होकर उसने देवता, दानव, अप्सरा, यक्ष, किन्नर आदि की काल्पनिक सृष्टि के धरातल पर विकसित एक विशाल परम्परा हमारे पौराणिक या देवगाथा साहित्य में अब भी विद्यमान है।

कहानी लिखने की परम्परा

कहानी लिखने या किसी भी प्रकार की कथा लिखने की परम्परा अवश्य बहुत ही परवर्ती काल से प्रारम्भ हुई। पहले विश्व के विविध प्रदेशों में लिपियों का विकास हुआ होगा। लिपि का पहला प्रयोग अधिक से अधिक दैनिक और व्यावहारिक कार्यों में हुआ होगा। कथाओं को लिपिबद्ध करने की प्रथम कल्पना मनुष्य में तब उठी होगी, जब कि उसने अनुभव किया होगा कि उसके पास कथात्मक कल्पना की एक इतनी लम्बी और वृद्ध परम्परा विकसित हो चुकी है जिसे उसके बाद की पीढ़ियाँ स्मरण नहीं रख सकतीं। प्रारम्भ में कथाओं को लिपिबद्ध करने की सूझ को पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिला होगा, क्योंकि न तो लिपियों को पढ़ सकने वाले प्रचुर रहे होंगे न लिपिबद्ध रचना की प्रतियाँ ही अनेक हो सकती होंगी। एक बात तो अवश्य हुई होगी, वह यह कि कथा की भाषा और शैली को सुन्दरतर बनाने की कम से कम एक अज्ञात आकांक्षा लेखक वर्ग में अवश्य जग गई होगी। आज की कहानी में हम जो टेकनीक का आश्चर्यकारी विकास देखते हैं, उसकी मूल प्रेरणा इसी अज्ञात अकांक्षा में छिपी थी।

आदर्श-भावना का उदय

अदिम मानव की विस्मय-भावना अपने विषयों के सतत साहचर्य से सहज ही श्रद्धा में परिणत हो गयी होगी। उसने अपनी कल्पना की सृष्टि को ही श्रद्धा, पवित्रता और पूजा की दृष्टि से देखा होगा। उसकी आदर्श-भावना ने उनमें एक रहस महत्ता की प्रतिष्ठा की होगी। इसके बाद कलाकार मानव अपने ही आध्यान्तरिक निर्माण पर आप ही मुग्ध हो गया होगा और उसकी स्तुति, उस के वर्णन, उसकी पूजा में मग्न हो गया होगा। उसकी यही पूजा-भावना धर्म से समन्वित होकर देव-गाथाओं के रूप में अभिव्यक्त हुई।

आदर्शवाद का विकास

मनुष्य ज्यों-ज्यों विकसित होता गया, उसका मनोविज्ञान भी जटिल और दुरूह होता गया। यह क्रमशः बढ़ती हुई मनोवैज्ञानिक जटिलता मानव-सभ्यता के इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है। प्रारम्भ में भावुक मनुष्य निसर्ग से आदर्शवादी था। आदर्शवाद स्वयं एक विशेष मनोवैज्ञानिक स्थिति की अभिव्यक्ति है।

और जिस समय समाज ही आदर्शवादी था (आदर्श सम्मत नहीं), उस समय सामान्य रूप में सम्पूर्ण समाज ही उस। मनोवैज्ञानिक स्थिति में था। यह स्थिति कुछ ऐसी है जब मनुष्य या समाज की दृष्टि में सन्देह, तर्क और विश्लेषण कम से कम मात्रा में हों और विश्वास, स्वीकृति और संश्लेषण अधिकतम। इस स्थिति का मनुष्य किसी भी पूर्व प्रतिपादित सत्य या सिद्धांत का खंडन नहीं करता, वरन् सिर नमित कर उसे स्वीकार करता है। आदर्श उसके जीवन में प्रधान हो जाता है और अन्य सारी बातें उसी आदर्श के निमित्त मात्र रह जाती हैं। आदिर्शवादिता मानव की एक शाश्वत प्रवृत्ति है। इसका कभी लोप नहीं होता, किन्तु प्राधान्य अवश्य कम होता चलता है। ऊपर जिस देवगाथा साहित्य का उल्लेख हुआ है, इसी आदर्शवादी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। वर्तमान युग का आदर्शवाद अपने मूल रूप से बहुत भिन्न है। इस भिन्नता को आगे स्पष्ट किया जायगा।

बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद और मनोरंजन

ऊपर जिस मनोवैज्ञानिक जटिलता का उल्लेख किया गया है, उसका सर्वप्रथम आभास उस समय हुआ, जब सभ्यता के विकास के साथ मानवीय प्रवृत्तियों ने एक अन्तरान्दोलन किया और आदर्शवाद को गौण घोषित किया। वस्तुतः वह मनुष्य के प्रच्छन्न कला-प्रेम का सर्वप्रथम उन्मेष था। उसके साथ-साथ मनोरंजन का महत्त्व बढ़ा। आदर्शवाद में कुछ थोड़े से अध्येताओं की आत्मा झंकृत होती है, किन्तु मनोरंजन की माँग सामने रखते हुए जन-सत्ता की आत्मा बोल उठी, जन-चेतना मुखरित हो उठी। इस युग से साहित्यकार को - यहाँ मेरा मतलब, कहानीकार को—अधिक से अधिक वैचित्र्यपूर्ण रचना का अधिक से अधिक मात्रा में प्रचार ~~क~~ करने का प्रोत्साहन मिला। इसलिए यह युग विविधता और वैचित्र्य का युग है। मध्य कालीन अनुश्रुत और उत्तरकालीन अभिलिखित भारतीय कथा-साहित्य विकास के इसी सोपान का प्रतीक है। इसके अन्तर्गत सुनी सुनाई चली आने वाली वे सब कहानियाँ आ जाती हैं जो बाद में 'तोता-मैना' 'सारंगा-सदावृज' 'गुलबकावली' आदि के नामों से लिख डाली गईं। इसके अतिरिक्त अकबर और बीरबल के नाम से प्रचलित विनोदपूर्ण चुटकुलों में भी इसी युग की आत्मा मुखरित है। इंशा अल्ला खाँ की 'उदयभान-चरित्र' 'रानी केतकी की कहानी' और हिन्दी के ऐयारी, जासूसी आदि उपन्यासों का युग हिन्दी कथा का मनोरञ्जन प्रधान युग है।

व्यक्तिवाद का विकास

मनोरंजन के युग को ऊपर मनोवैज्ञानिक जटिलता का युग बतलाया गया है। इसका कारण यह है कि काल-क्रम से मनुष्य की बुद्धि का उन्मेष होता रहा और इस बौद्धिक उन्मेष के साथ हार्दिक भावनाएँ नए-नए आवरणों और उपायों के परिपार्श्वों में सज्जित होकर सामने आने लगीं। प्रारम्भ का सरल मानव इन सभ्यतापूर्ण आडम्बरों से दूर था। मनुष्य के बौद्धिक उन्मेष के साथ-साथ उसकी अन्तश्चेतना या अन्तस्संज्ञा निखरती चली। उसकी इस अन्तश्चेतना में उसके व्यक्तित्व का सच्चा और वास्तविक स्वरूप छिपा था। बुद्धिवाद या बौद्धिकता ने इस प्रकार मनुष्य की प्रसुप्त वैयक्तिकता को जागरित किया और वर्तमान बुद्धिवाद के साथ-साथ जो चरम व्यक्तिवाद (Individualism) समाज के अन्तराल में एक आलोडन और अन्तर्मन्थन संचार कर रहा है, यह इस वर्द्धमान वैयक्तिकता की अब तक की पराकाष्ठा का स्वरूप है।

व्यक्तिवाद ने समाज की सामूहिक कल्पना पीछे छोड़ दी। बुद्धिवाद ने मनुष्य के व्यक्ति को सामूहिकता के बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर डालने की प्रेरणा दी। आदर्शवाद ने सामूहिकता की जो एक विशाल परम्परापुष्ट सृष्टि की थी, व्यक्तिवाद ने उसे तहस-नहस कर डाला और उसके ध्वंसावशेष पर मनुष्य के व्यक्ति की प्रतिष्ठा की। व्यक्ति ने आदर्श को मानव व्यक्तित्व का एक ऐसा अतिरिक्त अवयव माना जो उसके अन्तरंग यथार्थ को प्रतिबिम्बित नहीं करता। यथार्थता तो यह थी कि जीवन की व्यस्तता और अवसाद से निकलने के बाद मनुष्य आदर्श का उपदेश नहीं, मन को चमत्कृत और चकित कर देने वाले मनोरंजन का भूखा रहता था। मनोरंजन की यह भूख व्यक्तिवाद का प्रतिनिधित्व करती है। इसीलिए इसे मनुष्य की मनोवैज्ञानिक जटिलता में विकसित बतलाया गया है।

मनोरंजन के लिए लिखित कहानियाँ

मनोरंजन के लिए जो कहानियाँ लिखी गईं, उनमें मनुष्य की प्रतिभा को चमत्कृत और चकित कर देने का मूल उद्देश्य ही प्रधान था। इसलिए उसमें घटनाओं का अनपेक्षित घुमाव-फिराव, वृत्त की सांयोगिक वक्रता, कार्यों का अद्भुत वेग आदि का प्रयोग बहुत ही प्रचुरता से होता रहा। उन दैवी सत्ताओं का प्रयोग भी जारी रहा, जिनकी सृष्टि मनुष्य की आदर्शवादी प्रतिभा ने पूर्वकाल में की थी। देवी-देवता, यक्ष-किन्नर, गन्धर्व, अप्सराएँ या देवांगनाएँ

राक्षस-दानव, भूत-प्रेत, बैताल-पिशाच आदि के अन्दर मनुष्य जिस प्राकृति-कोत्तर चमत्कारिणी शक्ति की कल्पना की थी, वह घटना, वृत्त, कार्य आदि की भूमि पर उथल-पुथल मचाये रखने और आवश्यकता पड़ने पर अद्भुत संयोगों और दैवी घटनाओं की अवतारणा करने का एक बहुत ही सुन्दर साधन प्रमाणित हुआ।

यथार्थवादी प्रवृत्ति का प्रथम उन्मेष

ऊपर मनुष्य के जिस मनोवैज्ञानिक विकास का उल्लेख किया गया है उसके सतत संचरण ने धीरे-धीरे मनुष्य की बौद्धिकता की तहों में से उसकी कलात्मकता को खोज निकाला। ज्यों-ज्यों मनुष्य की यह कलात्मक भूख बढ़ती गई, मनोरंजन का स्तर छिछला और अस्वाभाविकताओं तथा अतिस्वाभाविकताओं से परिपूर्ण अनुभव होने लगा। उसने अपनी प्रगति के साथ अनुकूल कहानी की सृष्टि की वाञ्छा प्रकट की। इस समय तक उसका जीवन भी कुछ ऐसा संघर्षमय हो चुका था कि वह उस यथार्थ को कहानी में संवेदनापूर्ण दृष्टि से प्रतिबिम्बित देखने को उत्कण्ठित हो उठा। यथार्थवाद का यहीं प्रथम उद्भास हुआ।

मनुष्य की यथार्थवादी प्रवृत्ति ने दैवी सत्ताओं की लम्बी भीड़ को छिन्न-भिन्न कर डाला, चमत्कारों और आकस्मिक संयोगों की अस्वाभाविक और अतिस्वाभाविक परम्परा को खण्डित कर डाला। यहाँ से पुरानी आदर्शपरक परम्परा से एक विच्छेद-सा प्रारम्भ हुआ। अब तक कहानी आदर्श की अभिव्यक्ति और प्रचार का निमित्त या साधनमात्र बनकर आती थी। यथार्थवाद ने उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की स्थापना की।

कहानी का कला-रूप

कहानी के व्यक्तित्व के स्वतन्त्र हो जाने पर इसका विकास एक कला-रूप के पथ पर होने लगा। पाश्चात्य साहित्य की जिन 'शॉर्ट स्टोरीज़' को बंगला, में 'गल्प' नाम से और मराठी में 'लघु कथा' नाम से अभिहित किया गया, हिन्दी में उसी के लिए 'कहानी' शब्द का प्रयोग होने लगा। यहाँ से 'कहानी' शब्द का प्रयोग इन्हीं 'शॉर्ट-स्टोरीज़' 'गल्प' या 'लघु कथाओं' के अर्थ में होगा जो एक निश्चित कला-रूप है।

कला-रूप के मतलब है कलात्मक निदर्शन की पद्धति। जिस प्रकार कविता,

नाटक आदि मान्य कला-रूप हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य प्रभाव में कहानी को भी एक कला-रूप माना जाने लगा। इसके पूर्व कहानी के कला-रूप को नहीं, घटनाओं के वैचित्र्य का महत्त्व था। आदर्शप्रधान युग में पुराणों आदि में जो कथाएँ का उपाख्यान मिलते हैं, वे किसी पूर्वोल्लिखित तथ्य या सिद्धान्त के निदर्शन के लिए उद्धृत किए जाते थे। इसलिए पहले तो उनका कथात्मक महत्त्व ही नहीं था। मनोरंजन काल में सबसे बड़ा काम यही हुआ कि उनके कथात्मक स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई। यथार्थवादी युग में उसकी प्रच्छन्न कलात्मकता का विकास हुआ। क्रमशः कहानी एक कला-रूप बन चली।

मुद्रण-कला ने कहानियों की कलात्मकता के विकास में अभूतपूर्व सहायता प्रदान की। उत्सुक पाठक-वर्ग को जीवन के अवकाश के लिए एक मनोरंजक साथी मिल गया और लेखक वर्ग के लिए स्वयं को अभिव्यक्त और प्रचारित करने तथा अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँचाने का एक सरल, तत्पर, सस्ता और क्षिप्र साधन भी मिल गया।

कहानी की परिभाषा

कहानी को एक कला-रूप घोषित करते समय हमें इसकी एक परिभाषा भी निर्धारित कर लेनी चाहिए। वस्तुतः कहानी के स्वरूप के विकास के साथ-साथ इसकी परिभाषा भी बदलती रही। हिन्दी के कथा-साहित्य में ही एक समय था जबकि कहानी का प्राण चमत्कारपूर्ण और कुतूहलोत्पादक घटनाओं को ही माना जाता था। उस समय कथा कहानी का एक अंग नहीं, उसका मेरुदण्ड था। तब कहानी-लेखक अपनी सारी प्रतिभा कथा को वैचित्र्यपूर्ण बनाने, संयोग नियोजन और चमत्कार विधान का वक्रतम विन्यास करने और कार्यों (Action) की प्रचुरतम कल्पना करने में ही लगा देते थे। वह युग अब बीत चला। मानव मनोविज्ञान के अध्ययन और मानव-भावना के विश्लेषण ने 'मानव-चरित्र' का एक नया सत्य हमारे सामने मुक्त कर दिया है। प्रेमचन्द और 'प्रसाद' इस मानव-चरित्र का हिन्दी कहानी में विधान करनेवाले प्रथम कहानीकार हैं।

मानव-चरित्र के क्रमिक अध्ययन ने कहानी की दृष्टि के केन्द्र में स्थानान्तर ला दिया। कहानी का मेरुदण्ड कथानक नहीं रहा। ऐसी कहानियाँ लिखी जाने लगीं जिनमें किसी चरित्र विशेष का निदर्शन प्रधान होता और यदि थोड़ा-सा कथानक भी जोड़ा जाता तो वह चरित्र के विकास का निमित्त बना कर। कहीं

कहानियाँ ऐसी लिखी गई जिनमें कथा कोई नहीं, केवल दो-एक चित्र या बिम्ब-मात्र उपस्थित किये गये, जिनको क्रमशः पढ़ जाने के बाद सम्पूर्ण कहानी का एक संश्लिष्ट प्रभाव पाठक के मस्तिष्क पर पड़ जाता है और इसी के साथ उसकी चरम परिणति निष्पन्न हो जाती है। बहुत-सी कहानियों में ऊपर उल्लिखित कथा, चरित्र प्रभाव आदि सब का अभाव होता है, केवल एक वातावरण मात्र का निर्माण किया जाता है जिसमें कहानी का अन्तरंग और बहिरंग, दोनों रंजित रहते हैं। पूरी कहानी पढ़ जाने पर वह सम्पूर्ण वातावरण मस्तिष्क में एक चित्र, एक सत्य बनकर छा जाता है और इसी चित्र या सत्य की पूर्णता के साथ कहानी की पराकाष्ठा की निष्पत्ति होती है। प्रेमचन्द की 'पूस की रात' नामक कहानी इसी प्रकार के वातावरण चित्रण करनेवाली कहानियों की श्रेणी में आती है। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार की 'काम-काज' कहानी या 'अज्ञेय' की 'रोज' कहानी में प्रभाव विशेष के सृजन का प्रयास ही मिलेगा। उनमें न तो कोई कथानक है और न कोई चरित्र।

इस प्रकार धीरे-धीरे जैसे कहानी की कल्पना ही बदल गई-सी मालूम होती है। कथा, चरित्र, वातावरण, प्रभाव इनमें से कोई भी कहानी के लिए अनिवार्य नहीं रहा और कोई भी कहानी का आधार बनाया जा सकता है। कहानी का स्वरूप पहले से सूक्ष्म हो चला है। फिर भी इन सारी कहानियों में कोई एक ऐसी वस्तु समान आवश्यक है, जिसके कारण इन्हें हम कहानी ही पुकारते हैं, निबन्ध, गद्यकाव्य, आदि दूसरे नाम नहीं देते। उसी वस्तु का निर्धारण कर लेने से कहानी की परिभाषा स्थिर हो जाएगी।

निबन्ध में आत्माभिव्यंजना और स्वात्मिकता (Subjectivity) की प्रधानता होती है, किन्तु कहानी की प्रकृति मूलतः वस्त्वात्मक (Objective) ही होती है, चाहे वह आभ्यान्तरिक या स्वात्मिक (Subjective) शैली की ही क्यों न हो। निबन्ध में लेखक की स्वात्मिकता मुखरित होती है, किन्तु आभ्यान्तरिक कहानियों में उसके पात्रों की। वे पात्र तो लेखक की दृष्टि में अपनी-अपनी वस्त्वात्मक सत्ता रखते ही हैं।

कहानी की एक दूसरी विशेषता यह है कि जीवन, पर जीवन के किसी पक्ष पर या जीवन के किसी सूक्ष्म सत्य पर इसकी दृष्टि बहुत ही 'सरसरी' होती है। यहाँ 'प्रसाद' जी का विचार उद्धरणीय है। कहानी की परिभाषा करते हुए उन्होंने एक बार कहा था कि 'कहानी में सौन्दर्य की एक झलक का रस है।'

२

यदि कोई किसी तेज सवारी से कहीं जाता हो और मार्ग में एक सुन्दर स्वस्थ शिशु पर दृष्टि पड़ जाय किन्तु दृष्टि के स्थिर होते-होते सवारी आगे बढ़ जा तो उस एक झलक में कहानी से सदृश्य रखने वाला सुख मिलेगा। उसमें उ शिशु के अवयवों और व्यवहारों के सौन्दर्य के विशद निरीक्षण का अवकाश मिलेगा, किन्तु इन सब का एक सामूहिक प्रभाव अवश्य मनःपटल पर अंकि हो जाँयगा।

'प्रसाद' जी का यह साम्य-निदर्शन सचमुच बहुत ही सुन्दर और अनुकू है। इसमें कहानी वस्त्वात्मकता का भी निदर्शन सन्निहित है। ऊपर के विश्लेष के अधार पर हम कहानी की कुल इस प्रकार परिभाषा कर सकते हैं :—कहानी उस कलात्मक रचना का नाम है, जिसमें जीवन या जीवन के किसी पक्ष या सत्व की एक झलक अंकित हो और जिससे अन्तरंग सहज ही अभिभूत हो सके। इस परिभाषा का अन्तिम उपवाक्य इसलिए छोड़ दिया गया है कि जिसमें कहानी की एक और विशेषता भी सम्मिलित हो जाय। वह यह कि कहानी के वस्तु (Theme) का रुचिर होना आवश्यक है। वास्तव में यह रुचिरता स्वयं वस्तु में विद्यमान रहती है और समर्थ लेखक उसका विश्लेषण करके, उसमें मानव संवेदना का रंग भर कर, उस रुचिरता को प्रकट करता है, जिससे मानव अन्तरंग अभिभूत हो सके। लेखक की महानूतम कला इस रुचिरता के प्रकटीकरण या उन्मेष में ही सन्निहित है।

कहानी का आकार

कहानी आकार में उपन्यास से निश्चित ही छोटी होती है, पर उसके साथ यह अनिवार्य नहीं कि कहानी का कथानक भी छोटा ही हो। वास्तव में ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिनका कथानक और काल-गत विस्तार एक साधारण उपन्यास के कथानक और तद्गत अवधि से भी लम्बा हो। कहानी उस सारे विस्तार और घटना-जाल के बीच से लक्षित परिणाम की ओर बढ़ने में सहायक तथ्यों को ही चुनती है, किन्तु उपन्यास उन तथ्यों के परिपार्श्व में स्थित अन्य सहायक तथ्यों को भी ग्रहण करता है और बिखरा हुआ-सा विकसित होता है। उपन्यास की इस बाह्य विकीर्णता में व्यवस्था का एक विशेष ऐक्य रहता है, पर कहानी का मूल चयन ही कुछ ऐसा होता है कि उसका ऐक्य या उसकी एकसूत्रता बाहर और भीतर; सब तरफ से समान होती है। लम्बे कथानक और काल-

विस्तार की दृष्टि से हिन्दी की सुप्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' को ले सकते हैं। उसमें थोड़ी-सी ऐसी घटनाएँ चुनकर चित्रित कर दी गई हैं, जिनसे मध्य का शून्य व्यवधान भी व्यञ्जित हो उठता है। यदि यही उपन्यास के रूप में लिखा गया होता तो बीच के व्यवधान को व्यञ्जित न करके, उसका क्रमिक विकास भी चित्रित किया जाता, और चरित्रों का विकास और अधिक विस्तार से होता। 'प्रसाद' की 'आकाशदीप' कहानी भी एक लम्बे कथानक और काल-विस्तार के निदर्शन के लिए उद्धृत की जा सकती है।

एक बात और भी कहनी है। सब कहानियों का कथानक और अवधि विस्तृत होती हो, ऐसी बात नहीं। बहुत-सी कहानियाँ ऐसी भी मिलेंगी जिनकी सारी घटना बहुत ही सूक्ष्म होती है और थोड़े से समय में घटित हो जाती है। इस प्रकार कहानी में कथानक के विस्तार और सन्निहित अवधि की दृष्टि से कोई सीमा नहीं बनाई जा सकती। उपन्यास के विषय में इतना निश्चित है कि रञ्ज-कता बनाए रखने के लिए कथानक विस्तृत और अवधि कुछ न कुछ लम्बी अवश्य होनी चाहिए।

कहानी के आकार के छोटे होने के कारण अभिव्यंजना में संक्षिप्तता की उपेक्षा होती है। यह संक्षिप्तता ऐसी नहीं होनी चाहिए कि कोई अंश अनावश्यक लम्बा हो जाय और दूसरा अति सूक्ष्म या संक्षिप्त। सम्पूर्ण कहानी में एक सन्तु-लन होना चाहिए। इस सन्तुलित संक्षिप्तता के लिए कहानीकार अभिव्यञ्जनीय तथ्य को प्रत्यक्ष रूप से काट-छाँटकर, सँवार-सुधारकर, कम-से-कम रेखाओं का प्रयोग करते हुए अधिक-से-अधिक पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर देना चाहता है। इसमें केवल उन्हीं रेखाओं का प्रयोग होता है, जिनसे तथ्य और तथ्यगत सौन्दर्य की व्यंजना या अभिव्यंजना में अधिकतम सहायता मिलती है। व्यतिरिक्त अंशों के लिए कहानी में कोई स्थान नहीं, चाहे उनसे कहानी के किसी पात्र के चरित्र के ऐसे पक्ष का अंकन ही क्यों न होता हो जो कहानी के वस्तु की सीमा से परे हो। यह सन्तुलित संक्षिप्तता कहानी की कला को निखार और सौष्ठव प्रदान करती है।

कहानी में संघर्ष

कहानी में संघर्ष एक अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अंग निश्चित ही है। ऐसी भी कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं जिनमें किसी वातावरण विशेष का अंकन या

प्रभाव विशेष की सृष्टि ही कहानी का ध्येय होता है, और जिनमें संघर्ष का एकान्त अभाव होता है। चरित्र-चित्रण-प्रधान ऐसी कहानियाँ भी लिखी जाने लगी हैं जिनमें चरित्र का विकास अनिवार्यतया किसी संघर्ष की उपत्यका में से होकर ही किया जाय, ऐसा कोई बन्धन नहीं। इस श्रेणी की संघर्ष-शून्य कहानियों में लेखक का ध्येय केवल यही होता है कि वातावरण या चरित्र विशेष के एक पक्ष का पूर्ण विम्ब सामने उपस्थित कर दिया जाय या अपेक्षित प्रभाव की सृष्टि का पूर्णतम परिपाक हो जाय। पाठक के कुतूहल या जिज्ञासा को बनाए रखने के लिए इन सब कहानियों में यथार्थ जीवन का इतना स्वाभाविक, यथा-तथ्यात्मक और मार्मिक अंकन किया जाता है कि जिससे पाठक उससे अपने दैनिक जीवन को एक विचित्र मेल खाता हुआ अनुभव करता है। इससे उसकी संवेदना का स्पर्श होता है और इस आन्तर स्पर्श से सहज पुलकित होता हुआ वह कहानी को आद्यन्त पढ़ जाता है।

संघर्ष-शून्य कहानियों के अतिरिक्त सूक्ष्म संघर्ष या मानसिक संघर्ष वाली कहानियाँ भी लिखी गईं। ऐसी कहानियों में चरित्र के मनोवैज्ञानिक चित्रण की पद्धति कार्यशील है। इस पद्धति पर हिन्दी में अच्छी से अच्छी कहानियाँ लिखी गईं। 'प्रसाद' इलाचन्द्र जोशी और जैनेन्द्र इस पद्धति के लेखक हैं। इन मनोवैज्ञानिक कहानियों में संघर्ष का उद्भव मानसिक धरातल पर संपन्न होता है और प्रायः इस संघर्ष का स्वरूप एक लम्बा मनोद्वन्द्व हुआ करता है। संघर्ष के लिए अब एक व्यक्ति का मनोद्वन्द्व ही पर्याप्त पृष्ठिका तैयार कर देता है। पहले की भाँति दो पक्षों की अनिवार्यता का बन्धन अब तोड़ा जा चुका है। संघर्ष की पृष्ठिका में आधुनिक कहानी ने इतनी सूक्ष्मता ला दी है कि कहानी की परिभाषा ही बदल गई है। कहानी अब संघर्षपूर्ण कथानक नहीं, सत्य की एक झलक है, जैसा ऊपर बताया गया है। यदि इस झलक के क्षेत्र में कोई संघर्ष की अवस्था आ जाती है, तो वह उसी प्रकार ग्राह्य है जिस प्रकार साधारण जीवन का क्रम। कला तो उसके मर्म-स्पर्शी, स्वाभाविक और मनोविज्ञान-संयत अंकन में प्रस्फुटित होती है।

कहानी में चरित्र, वातावरण और प्रभाव के अंकन या सृष्टि के नए अनुसन्धान ने कहानी-लेखक की आँखों के सामने वैचित्र्य चिर-नवीनता, रहस्यात्मकता, जिज्ञासा और रंजकता के एक अपार वैभव और कलात्मकता के प्रदेश का द्वार खोल दिया है। इस समय हिन्दी की सबसे कलात्मक, सुरुचिपूर्ण और

स्थायी कहानियों की रचना इन्हीं पद्धतियों पर हो रही है। हिन्दी साहित्य को, और सामूहिक रूप में, विश्व-साहित्य को इस पद्धतियों से महान् आशाएँ हैं।

आधुनिक कहानी की टेकनीक

ऊपर के विचार से यह स्पष्ट हो गया कि आधुनिक कहानी में कथा, चरित्र, वातावरण प्रभाव, कार्य आदि कोई अनिवार्य नहीं हैं। साथ-साथ यह भी दिखाया गया है कि आधुनिक कहानी में संघर्ष तक की अनिवार्यता से कहानीकार ने निवृत्ति या मुक्ति पा ली है। आखिर तब ऐसी कौन-सी वस्तु या ऐसा कौन-सा तथ्य है जो कहानी में अनिवार्य है, और जिसके कारण कहानी कहानी कहलाती है और उसका एक अपना कला-रूप माना जाता है ?

इस प्रश्न का समीचीन उत्तर पाने के लिए हमें एक बार पुनः कहानी की परिभाषा की ओर ध्यान देना होगा। उसमें जीवन या जीवन के किसी सत्य की एक झलक का अंकन होता है, किन्तु उस अंकन की एक निर्दिष्ट विशेषता भी होती है। इसी निर्दिष्ट विशेषता में कहानी का अनिवार्य सत्य निहित है। यह विशेषता है सत्य के अंकन का मानव-मर्म को स्पर्श करने में समर्थ होना, जिससे पाठक अभिभूत हो सके। अंकन की यह सार्वाङ्गिक विशेषता ही आधुनिक कहानी का अनिवार्य अंग है। इसी को कहानी की टेकनीक कहा जाता है।

आधुनिक कहानी के विकास के इतिहास को यदि कहानी के टेकनीक के विकास का इतिहास कहा जाय तो इसमें कोई त्रुटि नहीं। वस्तुतः इस बीच टेकनीक में इतना अद्भुत विकास हुआ है कि इसी के इंगित पर कहानी की कला बिखरती चली है।

आधुनिक कहानी की टेकनीक की सब से पहली विशेषता है। वस्तु या वृत्त का चयन। वृत्त का चयन कलात्मक होता है। उसको कितनी ही प्रारम्भ, मध्य या अंत की घटनाएँ या तो एकदम छोड़ दी जाती हैं या वर्णित घटनाओं द्वारा व्यंजित कर दी जाती हैं। कहानी का प्रारम्भ वृत्त के बीच किसी एक मर्म-स्पर्शी विन्दु को चुन कर प्रायः अकस्मात् हो जाया करता है। इसी प्रकार अन्त के विधान में कहानीकार मार्मिकता की उद्भावना को लक्ष्य बना कर कहानी को किसी ऐसे विन्दु तक ले जाकर छोड़ देता है, जिसके बाद की सारी बात एक मूक मुखरता, एक तीव्र व्यंजना से झनझना उठती है। मर्म के तार-तार उसके सम पर मचल पड़ते हैं। आज की कहानी की सारी कला उसके अन्त पर निर्भर

है। कहानी का पाठक तो स्वभाव से ही मन में परिणाम की एक वेगपूर्ण उत्कंठा छिपाये रहता है। इसलिए यदि कहानी का अन्त थोड़ा भी शिथिल हुआ तो कहानी निरर्थक हो जाती है। जैसे 'उसने कहा था' को ले सकते हैं। आजकल की प्रायः सारी सफल कहानियों से हम इस सत्य का निदर्शन कर सकते हैं।

कहानी की टेकनीक के विषय में इसकी नवोत्थित नाटकीयता का भी बहुत महत्त्व है। वातावरण के चित्रण ने कहानी में रंगमंचों का-सा एक कौशल ला दिया है। स्वाभाविक कथोपकथन ने कहानी की मार्मिकता और कलात्मकता की वृद्धि की। आजकल की बहुत-सी कहानियों का तो प्रारम्भ ही कुछ ऐसा नाटकीय और संवादात्मक होता है, जिससे तत्सम्बद्ध पात्रों का परिचय और उनकी स्थिति-परिस्थिति का परिज्ञान सहज ही हो जाता है। कहानी लेखक स्वयं कुछ नहीं कहता, उसकी कहानी ही सब कुछ कह देती है। इस पद्धति की व्यंजनात्मकता बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कहानी की इस नाटकीयता से पाठक को स्वाभाविकता का अधिक सजीव, यथार्थ और घरेलू भास हो जाता है।

कहानी की टेकनीक का एक अन्य तथ्य है उसके विन्यास के नए-नए नमूनों का विकास। ऐतिहासिक शैली तो कहानी-लेखन की एक पुरानी पद्धति है। इसमें पाठक कथा की शुद्ध वस्त्वात्मक रीति से वर्णन करता है। इसके अतिरिक्त स्वाभाविकता, कलात्मकता और मार्मिकता की वृद्धि के लिए कहानियाँ अनेक शैलियों से लिखी गईं। पत्र-शैली उनमें से एक है। इसमें एक पात्र किसी दूसरे के पास पत्र लिखता है। और लेखक की इच्छानुसार पत्रोत्तर भी उपस्थित कर दिया जाता है। इस पत्र या पत्रोत्तर शृङ्खला में कथा अभिव्यक्त होती चलती है। इस शैली का कोई विशेष विकास नहीं हो सका, क्योंकि इसमें अनेक असुविधाएँ और परिमितियाँ हैं। टाइप या वर्गनिर्धारण की दृष्टि से डायरियों, अखबारी समाचारों, स्वप्नों, संस्करणों, डायरियों आदि से व्यंजित कहानियाँ और पत्र-शैली की कहानियाँ, सब एक ही श्रेणी में आएँगी।

चरित शैली भी एक महत्त्वपूर्ण और बहुत ही मार्मिक पद्धति है। इसमें कहानी का कोई एक पात्र अपनी कथा कहता है या अनेक पात्र क्रमशः अपनी-अपनी कथा कहते हैं। इसी के साथ कहानी भी व्यंजित होती चलती है। एक अन्य मार्मिक शैली है आभ्यान्तरिक या स्वात्मिक (Subjective) वर्णन-पद्धति की। इसके अतिरिक्त देव-गाथा या पुराण-कथा शैली भी एक है। इन सब विविध शैलियों के विकास ने टेकनीक को विविधता और रंजकता अवश्य दी,

किन्तु इन सब का अलग-अलग विकास नहीं हो सका। इसका कारण है इन सब में निहित असुविधाएँ और सीमाएँ। पत्र-शैली में शिष्टाचार के अतिरिक्त अंश आवश्यक हैं। आत्म-कथा शैली में जब एक पात्र के मनोभाव व्यक्त होते रहते हैं तब अन्य सब का यथार्थ और प्रत्यक् विश्लेषण नहीं हो पाता। इस सब के होते हुए कहानी की टेकनीक में जो विकास हुआ है, उससे कहानी की एक नई कल्पना, नई परिभाषा उदय हो गई है।

× × ×

कहानी के विकास और कहानी-कला की इस संक्षिप्त विवेचना के साथ मैं अपना व्याख्यान समाप्त करता हूँ। हिन्दी कहानी के विकास के लिए हिन्दी कहानी साहित्य या हिन्दी साहित्य के इतिहासों में सामग्री मिल जायगी। यहाँ तो कथा-साहित्य के विकास की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि और कहानी कला की एक संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत कर देना ही मेरा उद्देश्य है।



पुरस्कार

[श्री जयशंकर 'प्रसाद']

आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राचीर के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था — देखने लगी महाराज की सवारी। शैलमाला के अञ्चल में समतल उर्वरा-भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जय-घोष हुआ। भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोरें भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गयी। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुसकान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती; गोठ होती। नगर-निवासी पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से संपन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिए कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते, तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था। इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दर थी कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रम-कणों की भी कमी न थी। वे सब बरौनियों में गुंथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कुराहट के साथ सिहर उठते, किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता न दिखलायी। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषक-कुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य! कितनी सरल चितवन!

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया थाल में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ। यह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली, किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण-मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटी भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

"देव! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है, इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है।"

महाराज के बोलने के पहले ही वृद्धमन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—"अबोध क्या बक रही है? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है; फिर कोशल का यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई; इस धन से अपने को सुखी बना।"

"राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मंत्रिवर!······महाराज को भूमि समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है, किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।" मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—"देव! वाराणसी-युद्ध

अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एकमात्र कन्या है।" महाराज चौंक उठे---"सिंह-मित्र की कन्या! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है?"

"हाँ, देव!"---सविनय मन्त्री ने कहा।

"इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं मंत्रिवर?"---महाराज ने पूछा।

"देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुनकर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक; अर्थात् भू-सम्पति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।"

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये। किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

× × ×

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ---वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुँडेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगर-तोरण पर जा पहुँचा। रक्षकगण ऊँघ रहे थे; अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा, जहाँ मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी-लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित थे, भ्रमर निस्पन्द। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए। परन्तु कोकिल बोल उठा। उसने अरुण से प्रश्न किया---"छिः, कुमारी के सोये हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करने-वाले धृष्ट, तुम कौन?" मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अप-

रिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी। "भद्रे ! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो ?"

"उत्सव ! हाँ, उत्सव ही तो था।"

"कल उस सम्मान......"

"क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है ? भद्र ! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे ?"

"मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि !"

"मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह ! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित ! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।"

"सरलता की देवि ! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ। मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी......"

"राजकुमार ! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरे स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।"

"मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।"

"नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती— चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।"

"तब तुम्हारा रहस्य क्या है ?"

"यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता।" मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई ? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

× × ×

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्ण-कुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका का

आश्रम था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था। दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आस-पास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़-धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था; ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। जीवन से सामञ्जस्य बनाये रखने वाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं, परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—"दो, नहीं-नहीं तीन वर्ष हुए होंगे, इसी मधूक के नीचे, प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?"

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—"क्या कहा था?" दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता और स्मरण ही होता तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। असहाय दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रसाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों की रन्ध्रों से नीचे नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा, खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की संध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है वैसे ही मधूलिका 'अभी वह निकल गया' मन-ही-मन कह रही थी। वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—"कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिए।"

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोडे की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—"राजकुमार!"

"मधूलिका?"—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गयी, "इतने दिनों के बाद आज फिर!"

अरुण ने कहा—"कितना समझाया मैंने—परन्तु……"

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी;
उसने कहा—"और आज आपकी यह क्या दशा है ?"

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—"मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल
जीविका खोजने आया हूँ।"

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—मगध के विद्रोही राजकुमार
स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है; तो भी
स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।"

× ×

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा दे
वाला समीर ! तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर
वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था,
अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—"जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो तो फिर इ
सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है ?"

"मधूलिका ! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन-म
के साथी हैं, भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता और करता ही क्या ?"

"क्यों ? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम……।"

"भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य
स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ ?" अरुण के शब्दों में कम्पन
वह जैसे कुछ कहना चाहता था, पर कह न सकता था।"

"नवीन राज्य ! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला, कैसे ?
ढंग बताओ तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।"

"कल्पना का आनन्द नहीं, मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान
सिंहासन पर बिठाऊँगा ! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत
हो।"

एक क्षण में सरला मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—
मच गया। उसने सहसा कहा—"आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रती
करती थी, राजकुमार !"

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबाकर बोला—"तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो ?"

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—"तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से प्राण लगाकर मैं तुम्हें इसी कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिका, अरुण के खड्ग का आतंक देखोगी ?"

मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी, नहीं—किन्तु उसके मुँह से निकला, क्या ?

"सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिंतित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।"

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उस का मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—"तुम बोलती नहीं हो ?"

"जो कहोगे वही करूँगी"—मंत्रमुग्ध-सी मधूलिका ने कहा।

× × ×

स्वर्ण-मंच पर कोशल-नरेश अधलेटी अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूलवाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—"जय हो देव ! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।"

आँखें खोलते हुए महाराज ने कहा—"स्त्री ! प्रार्थना करने आई है ? आने दो।"

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—"तुम्हें कहीं देखा है।"

"तीन बरस हुए देव ! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।"

"ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य माँगने आई हो, क्यों ? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी !"

"नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।"

"मूर्खे ! फिर क्या चाहिए ?"

"उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि। वहीं अपनी खेती करूँगी। मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा; भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।"

महाराज ने कहा—"कृषक-बालिके ! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। फि पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्त्व रखती है।"

"तो फिर निराश लौट जाऊँ ?"

"सिंहमित्र की कन्या ! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना .....!"

"देव ! जैसी आज्ञा हो।"

"जाओ, तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं अमात्य को आज्ञापत्र का आदेश करता हूँ।"

"जय हो देव !"—कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमंदिर के बा आयी।

× × ×

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है। आज वहाँ मनु के पद संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्र से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काटकर पथ बन रहा था। नगर दूर फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा वहाँ मधूलिका का अच्छा खेत बन रहा था। किसको इसकी चिन्ता थी ?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देख पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमु घुसकर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—"चार पहर विश्वास करो और प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राज श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र का अधिपति बनूंगा, मधूलिके !"

"भयानक ! अरुण तुम्हारा साहस देखकर मैं चकित हो रही हूँ। केवल सैनिकों से तुम......"

"रात के तीसरे पहर मेरी विजय-यात्रा होगी मधूलिके !"

"तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?"

"अवश्य। तुम अपनी झोपड़ी में यह रात बिताओ; प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।"

मधूलिका प्रसन्न थी; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण-कामना सशंक थी वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—"अच्छा, अंधकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध-रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए। इस लिए रात्रि भर के लिए विदा !"

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कटीली झाड़ियों से उलझती हुई, क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में, वह अपनी झोपड़ी की ओर चली।

× × ×

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा सोचने लगी, वह क्यों सफल हो ? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय ? मगध कोशल का चिर-शत्रु ! ओह, उसकी विजय ! कोशल-नरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं, नहीं। 'मधूलिका ! मधूलिका ! !' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गयी।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़-बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंह-मित्र और कभी अरुण की मूर्त्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गयी। प्रायः एक सौ उल्का-धारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से

हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया, पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोककर कहा—"कौन ?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—"तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।"

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—"बाँध लो मुझे, बाँध लो। मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।"

सेनापति हँस पड़े। बोले—"पगली है।"

"पगली ! नहीं। यदि वही होती तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।"

"क्या है ? स्पष्ट कह !"

"श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।"

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—"तू क्या कह रही है ?"

"मैं सत्य कह रही हूँ, शीघ्रता करो।"

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं आश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

× × ×

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत-वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल के अतीत की स्वर्ण-गाथाएँ लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्षा का कारण है। दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे, जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके, जब उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना तब द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ पर से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन ! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे ?

"सेनापति की जय हो ! दो सौ।"

"उन्हें शीघ्र एकत्र करो, परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।"

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई थी। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति

को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे। किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—"जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।"

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देखकर कहा—"सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों?—क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?"

"देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रवन्ध किया है। और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देशा दिया है।"

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—"मधूलिका, यह सत्य है?"

"हाँ, देव!"

राजा ने सेनापति से कहा—'सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ।" सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—"सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबंध कर लूँ।"

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जय-घोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनंद से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा-मंडप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुङ्कार की—"वध करो!" राजा ने सबसे सहमत होकर कहा—"प्राणदण्ड।" मधूलिका बुलायी गयी। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गयी। कोशल-नरेश ने पूछा—"मधूलिका तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग।"

वह चुप रही।

राजा ने कहा—"मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ।"

मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा । उसने कहा—"मुझे कुछ न चाहिए ।"

अरुण हँस पड़ा ।

राजा ने कहा—"नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा । माँग ले ।"

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले ।" कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास खड़ी हुई !

ताई

[श्री विश्वम्भरनाथ शर्मा, कौशिक]

"ताऊजी हमें लेलगाली (रेलगाड़ी) ला दोगे ?"—कहता हुआ एक पंचवर्षीय बालक बाबू रामजीदास की ओर दौड़ा।

बाबू साहब ने दोनों बाहें फैलाकर कहा—"हाँ बेटा, ला देंगे।"

उनके इतना कहते-कहते बालक उनके निकट आ गया। उन्होंने बालक को गोद में उठा लिया, और उसका मुख चूमकर बोले—"क्या करेगा रेलगाड़ी ?"

बालक बोला—"उसमें बैठ के बली दूल जायँगे। हम भी जायँगे, चुन्नी को भी ले जायँगे। बाबूजी को नहीं ले जायँगे। हमें लेलगाली नहीं ला देते। ताऊजी, तुम ला दोगे, तो तुम्हें ले जायँगे।"

बाबू—"और किसको ले जायगा ?"

बालक दम-भर सोचकर बोला—"बछ, और किच्छी को नहीं ले जायँगे।"

पास ही बाबू रामजीदास की अर्द्धांगिनी बैठी थीं। बाबू साहब ने उनकी ओर इशारा करके कहा—"और अपनी ताई को नहीं ले जायगा ?"

बालक कुछ देर तक अपनी ताई की ओर देखता रहा। ताईजी उस समय कुछ चिढ़ी हुई-सी बैठी थीं। बालक को उनके मुख का वह भाव अच्छा न लगा, अतएव वह बोला—"ताई को नहीं ले जायँगे।"

ताई जी सुपारी काटती हुई बोलीं—"अपने ताऊजी ही को ले जा! मेरे ऊपर दया रख!"

ताई ने यह बात बड़ी रुखाई के साथ कही! बालक ताई के शुष्क व्यवहार को तुरन्त ताड़ गया। बाबू साहब ने फिर पूछा—"ताई को क्यों नहीं ले जायगा ?"

बालक—"ताई हमें प्याल (प्यार) नहीं कलतीं।"

बाबू—"जो प्यार करें, तो ले जायगा ?"

बालक को इसमें कुछ सन्देह न था। ताई का भाव देखकर उसे यह आश
नहीं थी कि वह प्यार करेंगी। इससे बालक मौन रहा।

बाबू साहब ने फ़िर पूछा—"क्यों रे; बोलता नहीं ? ताई प्यार करें तो
रेल पर बिठाकर ले जायगा ?"

बालक ने ताऊजी को प्रसन्न करने के लिए केवल सिर हिला कर स्वीका
कर लिया; परन्तु मुख से कुछ नहीं कहा।

बाबू साहब उसे अपनी अर्द्धांगिनी के पास ले जाकर उनसे बोले—"लो
इसे प्यार कर लो; तो यह तुम्हें भी ले जायगा।" परन्तु बच्चे की ताई श्रीमत
रामेश्वरी को पति की यह चुहलबाजी अच्छी न लगी। वह तुनककर बोलीं-
"तुम्हीं रेल पर बैठकर जाओ; मुझे नहीं जाना है।"

बाबू साहब ने रामेश्वरी की बात पर ध्यान नहीं दिया। वे बच्चे को उ
की गोद में बिठाने की चेष्टा करते हुए बोले—"प्यार नहीं करोगी तो फिर रे
में नहीं बिठावेगा—क्यों रे मनोहर ?"

मनोहर ने ताऊ की बात का उत्तर नहीं दिया। उधर ताई ने मनोहर
अपनी गोद से ढकेल दिया। मनोहर नीचे गिर पड़ा। शरीर में तो चोट न
लगी; पर हृदय में चोट लगी। बालक रो पड़ा।

बाबू साहब ने बालक को गोद में उठा लिया, चुमकार-पुचकार कर
किया और तत्पश्चात् उसे कुछ पैसे तथा रेलगाड़ी ला देने का वचन दे
छोड़ दिया। बालक मनोहर भय-पूर्ण दृष्टि से अपनी ताई की ओर ताकता हु
उस स्थान से चला गया।

मनोहर के चले जाने पर बाबू रामजीदास रामेश्वरी से बोले—"तुम्हा
यह कैसा व्यवहार है ? बच्चे को ढकेल दिया ! जो उसके चोट लग जाती तो !

रामेश्वरी मुँह मटकाकर बोलीं—"लग जाती तो अच्छा होता। क्यों मे
खोपड़ी पर लादे देते थे ? आप ही तो उसे मेरे ऊपर डालते थे; आप ही
ऐसी बातें करते हैं।"

बाबू साहब कुढ़कर बोले—"इसी को खोपड़ी पर लादना कहते हैं ?"

रामेश्वरी—"और नहीं किसे कहते हैं ! तुम्हें तो अपने आगे और कि
का दुःख-सुख सूझता ही नहीं। न जाने कब किसका जी कैसा होता है। तु
इन बातों की कोई परवा ही नहीं, अपनी चुहल से काम है !"

बाबू—"बच्चों की प्यारी-प्यारी बातें सुनकर तो चाहे जैसा जी हो, प्रसन्न हो जाता है। मगर तुम्हारा हृदय न जाने किस धातु का बना हुआ है।"

रामेश्वरी—"तुम्हारा हो जाता होगा। और होने को होता भी है; मगर वैसा बच्चा भी तो हो! पराये धन से भी कहीं घर भरता है।"

बाबू साहब कुछ देर चुप रहकर बोले—"यदि अपना सगा भतीजा भी पराया धन कहा जा सकता है, तो फिर मैं नहीं समझता कि अपना धन किसे कहेंगे।"

रामेश्वरी कुछ उत्तेजित होकर बोलीं—"बातें बनाना बहुत आता है। तुम्हारा भतीजा है, तुम चाहे जो समझो; पर मुझे ये बातें अच्छी नहीं लगतीं। हमारे भाग ही फूटे हैं! नहीं तो ये दिन काहे को देखने पड़ते! तुम्हारा चलन तो दुनिया से निराला है। आदमी सन्तान के लिए न जाने क्या-क्या करते हैं—पूजा-पाठ कराते हैं, व्रत रखते हैं, पर तुम्हें इन बातों से क्या काम? रात-दिन भाई-भतीजों में मगन रहते हो।"

बाबू साहब के मुख पर घृणा का भाव झलक आया। उन्होंने कहा—"पूजा पाठ, व्रत सब ढकोसला है। जो वस्तु भाग्य में नहीं, वह पूजा-पाठ से कभी प्राप्त नहीं हो सकती। मेरा तो यह अटल विश्वास है।"

श्रीमतीजी कुछ-कुछ रुआसे स्वर में बोलीं—"इसी विश्वास ने तो सब चौपट कर रक्खा है! ऐसे ही विश्वास पर सब बैठ जायँ, तो काम कैसे चले? सब विश्वास पर ही बैठे रहें, आदमी काहे को किसी बात के लिए चेष्टा करे।"

बाबू साहब ने सोचा कि मूर्ख स्त्री के मुँह लगना ठीक नहीं, अतएव वह स्त्री की बात का कुछ उत्तर न देकर वहाँ से टल गये।

(२)

बाबू रामजीदास धनी आदमी हैं। कपड़े की आढ़त का काम करते हैं। लेन-देन भी है। इनके एक छोटा भाई है। उसका नाम है कृष्णदास। दोनों भाइयों का परिवार एक ही में है। बाबू रामजीदास की आयु ३५ वर्ष के लगभग है, और छोटे भाई कृष्णदास की २१ के लगभग। रामजीदास निस्सन्तान हैं। कृष्णदास के दो सन्तानें हैं। एक पुत्र—वही पुत्र, जिससे पाठक परिचित हो चुके हैं—और एक कन्या है। कन्या की आयु दो वर्ष के लगभग है।

रामजीदास अपने छोटे भाई और उनकी सन्तान पर बड़ा स्नेह रखते हैं—ऐसा स्नेह कि उसके प्रभाव से उन्हें अपनी सन्तान हीनता कभी खटकती ही

नहीं। छोटे भाई की सन्तान को वे अपनी ही सन्तान समझते हैं। दोनों बच्चे रामजीदास से इतने हिले हैं कि उन्हें अपने पिता से भी अधिक समझते हैं।

परन्तु रामजीदास की पत्नी रामेश्वरी को अपनी सन्तानहीनता का दुःख है। वह दिन-रात सन्तान ही के सोच में घुला करती हैं। छोटे भाई सन्तान पर पति का प्रेम उनकी आँखों में काँटे की तरह खटकता है।

रात को भोजन इत्यादि से निवृत्त होकर रामजीदास शैय्या पर लेटे शीतल और मन्दवायु का आनन्द ले रहे थे। पास ही दूसरी शैय्या पर रामेश्वरी हथेली पर सिर रक्खे, किसी चिन्ता में डूबी हुई थीं। दोनों बच्चे अभी साहब के पास से उठकर अपनी माँ के पास गये थे।

बाबू साहब ने अपनी स्त्री की ओर करवट लेकर कहा - "आज तुमने मनोहर को इस बुरी तरह से ढकेला था कि मुझे अब तक उसका दुःख है। कभी कभी तो तुम्हारा व्यवहार बिलकुल ही अमानुषिक हो उठता है।"

रामेश्वरी बोलीं—तुम्हीं ने मुझे ऐसा बना रक्खा है। उस दिन उस पण्डित ने कहा था कि हम दोनों के जन्म-पत्र में संतान का जोग है, और उपाय करने से सन्तान हो भी सकती है। उसने उपाय भी बताये थे, पर तुमने उनमें से एक भी उपाय करके न देखा। बस, तुम तो इन्हीं दोनों में मग्न हो। तुम्हारी इस बात से रात-दिन मेरा कलेजा सुलगता रहता है। आदमी उपाय तो करके देखता है। फिर होना-न-होना तो भगवान् के अधीन है।"

बाबू साहब हँसकर बोले—"तुम्हारी-जैसी सोधी स्त्री भी ···क्या कहूँ, इन ज्योतिषियों की बातों पर विश्वास करती हो, जो दुनिया भर के झूठे और धूर्त हैं! ये झूठ बोलने ही की रोटियाँ खाते हैं।"

रामेश्वरी तुनककर बोलीं—"तुम्हें तो सारा संसार झूठा ही दिखाई पड़ता है। ये पोथी-पुराण भी सब झूठे हैं? पण्डित कुछ अपनी तरफ से तो बनाकर कहते ही नहीं हैं। शास्त्र में जो लिखा है, वही वे भी कहते हैं। शास्त्र झूठा है तो वे भी झूठे हैं। अँगरेजी क्या पढ़ी, अपने आगे किसी को गिनते ही नहीं। जो बातें बाप-दादे के जमाने से चली आई हैं, उन्हें भी झूठा बताते हैं।"

बाबू साहब—"तुम बात तो समझतीं नहीं, अपनी ही ओटे जाती हो। मैं यह नहीं कहता कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा है। संभव है, वह सच्चा हो। पर ज्योतिषियों में अधिकांश झूठे होते हैं। उन्हें ज्योतिष का पूर्ण ज्ञान तो होता नहीं, दो-एक छोटी-मोटी पुस्तकें पढ़कर ज्योतिषी बन बैठते और लोगों को ठगते

फिरते हैं। ऐसी दशा में उनकी बातों पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ?"

रामेश्वरी—"हूँ, सब झूठ ही हैं, तुम्हीं एक बड़े सच्चे हो ! अच्छा, एक बात पूछती हूँ। भला तुम्हारे जी में सन्तान की इच्छा क्या कभी नहीं होती ?"

इस बार रामेश्वरी ने बाबू साहब के हृदय का कोमल स्थान पकड़ा। वह कुछ देर चुप रहे। तत्पश्चात् एक लम्बी साँस लेकर बोले—"भला ऐसा कौन मनुष्य होगा, जिसके हृदय में सन्तान का मुख देखने की इच्छा न हो ? परन्तु किया क्या जाय ? जब नहीं है, और न होने की कोई आशा ही है, तब उसके लिए व्यर्थ चिन्ता करने से क्या लाभ ? इसके सिवा जो बात अपनी सन्तान से होती, वही भाई की सन्तान से भी हो रही है। जितना स्नेह अपनी पर होता, उतना ही इन पर भी है। जो आनन्द उनकी बाल-क्रीड़ा से आता, वही इनकी क्रीड़ा से भी आ रहा है। फिर मैं नहीं समझता कि चिन्ता क्यों की जाय।"

रामेश्वरी कुढ़कर बोलीं—"तुम्हारी समझ को मैं क्या कहूँ। इसी से तो रात-दिन जला करती हूँ। भला यह तो बताओ कि तुम्हारे पीछे क्या इन्हीं से तुम्हारा नाम चलेगा ?"

बाबू साहब हँसकर बोले—"अरे तुम भी कहाँ की पोच बातें लाई। नाम सन्तान से नहीं चलता। नाम अपनी सुकृति से चलता है। तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। सूरदास को मरे कितने दिन हो चुके ? इसी प्रकार जितने महात्मा हो गये हैं, उन सब का नाम क्या उनकी सन्तान ही की बदौलत चल रहा है ? सच पूछो, तो सन्तान से जितनी नाम चलने की आशा रहती है, उतनी ही नाम डूब जाने की संभावना रहती है। परन्तु सुकृति एक ऐसी वस्तु है, जिससे नाम बढ़ने के सिवा घटने की कभी आशंका रहती ही नहीं। हमारे शहर में राय गिरधारीलाल कितने नामी आदमी थे ? उनके सन्तान कहाँ है ? पर उनकी धर्मशाला और अनाथालय से उनका नाम अब तक चला जा रहा है, और अभी न जाने कितने दिनों तक चला जायगा।"

रामेश्वरी—"शास्त्र में लिखा है कि जिसके पुत्र नहीं होता, उसको मुक्ति नहीं होती ?"

बाबू—"मुक्ति पर मुझे विश्वास ही नहीं। मुक्ति है किस चिड़िया का नाम ? यदि मुक्ति होना मान भी लिया जाय, तो यह कैसे माना जा सकता है कि सब पुत्रवानों की मुक्ति हो ही जाती है ? मुक्ति का भी क्या सहज उपाय है ! ये जितने पुत्रवाले हैं, सभी की तो मुक्ति हो जाती होगी ?"

रामेश्वरी निरुत्तर होकर बोलीं—"अब तुमसे कौन बकवाद करे। तुम अपने सामने किसी की मानते ही नहीं।"

(३)

मनुष्य का हृदय बड़ा ममत्व-प्रेमी है। कैसी ही उपयोगी और कितनी सुन्दर वस्तु क्यों न हो, जब तक मनुष्य उसको पराई समझता है, तब तक उ प्रेम नहीं करता। किन्तु भद्दी-से-भद्दी और बिलकुल काम में न आनेवाली व को भी यदि मनुष्य अपनी समझता है, तो उससे प्रेम करता है। पराई चीज कितनी ही मूल्यवान् क्यों न हो, कितनी ही उपयोगी क्यों न हो, कितनी ही सु क्यों न हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य कुछ भी दुःख का अनुभव नहीं कर इसलिए कि वह वस्तु उसकी नहीं, पराई है। अपनी वस्तु कितनी ही भद्दी काम में न आनेवाली हो, उसके नष्ट होने पर मनुष्य को दुःख होता है, इस कि वह अपनी चीज है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य पराई चीज प्रेम करने लगता है। ऐसी दशा में जब तक मनुष्य उस वस्तु को अपनी क कर नहीं छोड़ता, अथवा अपने हृदय में यह विचार नहीं दृढ़ कर लेता कि वस्तु मेरी है, तब तक उसे सन्तोष नहीं होता। ममत्व से प्रेम उत्पन्न होता और प्रेम से ममत्व। इन दोनों का साथ चोली-दामन का-सा है। ये क पृथक् नहीं किये जा सकते।

यद्यपि रामेश्वरी को माता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था, तथा उनका हृदय एक माता का हृदय बनने की पूरी योग्यता रखता था। उन हृदय में वे गुण विद्यमान तथा अन्तर्निहित थे, जो एक माता के हृदय में होते हैं परन्तु उनका विकास नहीं हुआ था। उनका हृदय उस भूमि की तरह था, जिस बीज तो पड़ा हुआ है, पर उसको सींचकर और इस प्रकार बीज को प्रस्फु करके भूमि के ऊपर लानेवाला कोई नहीं। इसीलिए उनका हृदय उन बच्चों ओर खिंचता था, परन्तु जब उन्हें ध्यान आता था कि ये बच्चे मेरे नहीं, दू के हैं, तब उनके हृदय में उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता था, घृणा पैदा होती थी विशेषकर उस समय उनके द्वेष की मात्रा और भी बढ़ जाती थी, जब वह देखती थीं कि उनके पति-देव उन बच्चों पर प्राण देते हैं, जो उनके (रामेश्व के) नहीं हैं।

शाम का समय था। रामेश्वरी खुली छत पर बैठी हवा खा रही थीं। पा ही उनकी देवरानी भी बैठी थीं। दोनों बच्चे छत पर दौड़-दौड़कर खेल रहे थे

रामेश्वरी उनके खेल को देख रही थी। इस समय रामेश्वरी को उन बच्चों का खेलना-कूदना बड़ा भला मालूम हो रहा था। हवा में उड़ते हुए उनके बाल, कमल की तरह खिले हुए उनके नन्हें-नन्हें मुख, उनकी प्यारी-प्यारी तोतली बातें, उनका चिल्लाना, भागना, लोट जाना इत्यादि क्रीड़ाएँ उनके हृदय को शीतल कर रही थीं। सहसा मनोहर अपनी बहन को मारने दौड़ा। वह खिल-खिलाती हुई दौड़कर रामेश्वरी की गोद में गिरी। उसके पीछे-पीछे मनोहर दौड़ता हुआ आया, और वह भी उन्हीं की गोद में जा-गिरा। रामेश्वरी उस समय सारा द्वेष भूल गईं। उन्होंने दोनों बच्चों को उसी प्रकार हृदय से लगा लिया, जिस प्रकार वह मनुष्य लगाता है, जो कि बच्चों के लिए तरस रहा हो। उन्होंने बड़ी सतृष्णता से दोनों को प्यार किया। उस समय यदि कोई अपरिचित मनुष्य उन्हें देखता, तो उसे यही विश्वास होता कि रामेश्वरी उन बच्चों की माता हैं।

दोनों बच्चे बड़ी देर तक उनकी गोद में खेलते रहे। सहसा उसी समय किसी के आने की आहट पाकर बच्चों की माता वहाँ से उठकर चली गई।

"मनोहर, ले रेलगाड़ी।" कहते हुए बाबू रामजीदास छत पर आये। उनका स्वर सुनते ही दोनों बच्चे रामेश्वरी की गोद से तड़पकर निकल भागे। रामजीदास ने पहले दोनों को खूब प्यार किया, फिर बैठकर रेलगाड़ी दिखाने लगे।

इधर रामेश्वरी की नींद-सी टूटी। पति को बच्चों में मगन होते देखकर उनकी भौंहें तन गईं। बच्चों के प्रति हृदय में फिर वही घृणा और द्वेष का भाव जग उठा।

बच्चों को रेलगाड़ी देकर बाबू साहब रामेश्वरी के पास आये, और मुस-कुराकर बोले—"आज तो तुम बच्चों को बड़ा प्यार कर रही थीं! इससे मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में भी इनके प्रति कुछ प्रेम अवश्य है।"

रामेश्वरी को पति की यह बात बहुत बुरी लगी। उन्हें अपनी कमजोरी पर बड़ा दुःख हुआ। केवल दुःख ही नहीं, अपने ऊपर क्रोध भी आया। वह दुःख और क्रोध पति के उक्त वाक्य से और भी बढ़ गया। उनकी कमजोरी पति पर प्रकट हो गयी, यह बात उनके लिए असह्य हो उठी।

रामजीदास बोले—"इसीलिए मैं कहता हूँ कि अपनी संतान के लिए सोच करना वृथा है। यदि तुम इनसे प्रेम करने लगो, तो तुम्हें ये अपनी संतान प्रतीत

होने लगेंगे। मुझे इस बात से प्रसन्नता है कि तुम इनसे स्नेह करना सीख
हो।"

यह बात बाबू साहब ने नितांत शुद्ध हृदय से कही थी; परन्तु रामेश्वरी
इसमें व्यंग्य की तीक्ष्ण गन्ध मालूम हुई। उन्होंने कुढ़कर मन में कहा—
मौत भी नहीं आती। मर जायँ, पाप कटे! आठों पहर आँखों के सामने
से प्यार करने को जी ललचा ही उठता है। इनके मारे कलेजा और भी
करता है।"

बाबू साहब ने पत्नी को मौन देखकर कहा—"अब झेंपने से क्या ला
अपने प्रेम को छिपाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। छिपाने की आवश्यकता
नहीं।"

रामेश्वरी जल-भुनकर बोलीं—"मुझे क्या पड़ी है; जो मैं प्रेम करूं
तुम्हीं को मुबारक रहे! निगोड़ आप ही आ-आके घुसते हैं। एक घर में
से कभी-कमी हँसना-बोलना पड़ता है। अभी परसों जरा यों ही ढकेल दिन
उस पर तुमने सैकड़ों बातें सुनाईं। संकट में प्राण हैं, न यों चैन, न वों चैन

बाबू साहब को पत्नी के वाक्य सुनकर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने
स्वर में कहा—"न-जाने कैसे हृदय की स्त्री है अभी अच्छी खासी बैठी बच्चों
प्यार कर रही थी। मेरे आते ही गिरगिट की तरह रंग बदलने लगी।
इच्छा से चाहे जो करे, पर मेरे कहने से बल्लियों उछलती है। न-जाने
बातों में कौन-सा विष घुला रहता है। यदि मेरा कहना ही बुरा मालूम
है, तो न कहा करूँगा। पर इतना याद रक्खो कि अब जो कभी इनके
में निगोड़े-सिगोड़े इत्यादि अपशब्द निकले, तो अच्छा न होगा! तुम से मुझे
बच्चे कहीं अधिक प्यारे हैं!"

रामेश्वरी ने इसका कोई उत्तर न दिया। अपने क्षोभ तथा क्रोध को
आँखों-द्वारा निकालने लगी।

जैसे-ही-जैसे बाबू रामजीदास का स्नेह दोनों बच्चों पर बढ़ता जाता
वैसे-ही-वैसे रामेश्वरी के द्वेष और घृणा की मात्रा भी बढ़ती जाती थी।
बच्चों के पीछे पति-पत्नी में कहा-सुनी हो जाती थी, और रामेश्वरी को प
कटु वचन सुनने पड़ते थे। जब रामेश्वरी ने यह देखा कि बच्चों के कार
वह पति की नजर से गिरती जा रही हैं, तब उनके हृदय में बड़ा तूफान उठा
उन्होंने सोचा—पराये बच्चों के पीछे यह मुझसे प्रेम कम करते जाते हैं, मुझे

समय बुरा-भला कहा करते हैं। इनके लिए बच्चे ही सब कुछ हैं मैं कुछ भी नहीं! दुनिया मरती जाती है, पर इन दोनों को मौत नहीं। ये पैदा होते ही क्यों न मर गये। न ये होते, न मुझे ये दिन देखने पड़ते। जिस दिन ये मरेंगे उस दिन घी के दिये जलाऊँगी। इन्होंने ही मेरा घर सत्यानाश कर रक्खा है।

इसी प्रकार कुछ दिन व्यतीत हुए। एक दिन नियमानुसार रामेश्वरी छत पर अकेली बैठी हुई थीं। उनके हृदय में अनेक प्रकार के विचार आ रहे थे। विचार और कुछ नहीं, वही अपनी निज की सन्तान का अभाव, पति का भाई की सन्तान के प्रति अनुराग इत्यादि। कुछ देर बाद जब उनके विचार स्वयं उन्हीं को कष्टदायक मालूम होने लगे, तब वह अपना ध्यान दूसरी ओर लगाने के लिए उठकर टहलने लगीं।

वह टहल ही रही थीं कि मनोहर दौड़ता हुआ आया। मनोहर को देखकर उनकी भृकुटी चढ़ गई, और वह छत की चहारदीवारी पर हाथ रखकर खड़ी हो गयी।

सन्ध्या का समय था। आकाश में रंग-बिरंगी पतंगे उड़ रही थीं। मनोहर कुछ देर तक खड़ा पतंगों को देखता और सोचता रहा कि कोई पतंग कटकर उसकी छत पर गिरे, तो क्या ही आनन्द आवे। देर तक पतंगे गिरने की आशा करने के बाद वह दौड़कर रामेश्वरी के पास आया और उनकी टाँगों में लिपट कर बोला—"ताई, हमें पतंग मँगा दो।" रामेश्वरी ने झिड़क कर कहा—"चल हट, अपने ताऊ से माँग जाकर।"

मनोहर कुछ अप्रतिभ होकर फिर आकाश की ओर ताकने लगा। थोड़ी देर बाद उससे फिर न रहा गया। इस बार उसने बड़े लाड़ में आकर अत्यन्त करुण-स्वर में कहा—"ताई, पतंग मँगा दो, हम भी उड़ावेंगे।"

इस बार उसकी भोली प्रार्थना से रामेश्वरी का कलेजा कुछ पसीज गया। वह कुछ देर तक उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखती रहो। फिर उन्होंने एक लम्बी साँस लेकर मन-ही-मन कहा—"यदि यह मेरा पुत्र होता, तो आज मुझसे बढ़कर भाग्यवान् स्त्री संसार में दूसरी न होती। निगोड़-मारा कितना सुन्दर है और कैसी प्यारी-प्यारी बातें करता है! यही जी चाहता है कि उठाकर छाती से लगा लें!

यह सोचकर वह उसके सिर पर हाथ फेरनेवाली ही थीं कि इतने में मनोहर

उन्हें मौन देखकर बोला—"तुम हमें पतंग नहीं मँगवा दोगी, तो ताऊजी से कर तुम्हें पिटवावेंगे।"

यद्यपि बच्चे की इस भोली बात में बड़ी मधुरता थी, तथापि रामेश्वरी मुख क्रोध के मारे लाल हो गया है। वह उसे झिड़ककर बोलीं—"जा, अपने ताऊजी से। देखूं, वह मेरा क्या कर लेंगे।"

मनोहर भयभीत होकर उनके पास से हट आया, और फिर सतृष्ण नेत्रों आकाश में उड़ती हुई पतंगों को देखने लगा।

इधर रामेश्वरी ने सोचा—यह सब ताऊजी के दुलार का फल है बालिश्त-भर का लड़का मुझे धमकाता है। ईश्वर करे इस दुलार पर विपत्ति टूटे।

उसी समय आकाश से एक पतंग कटकर उसी छत की ओर आई रामेश्वरी के ऊपर से होती हुई, छज्जे की ओर गई। छत के चारों ओर चह दीवारी थी। जहाँ रामेश्वरी खड़ी हुई थीं, केवल वहीं पर एक द्वार था, जि छज्जे पर आ-जा सकते थे। रामेश्वरी उस द्वार से सटी हुई खड़ी थीं। मनो ने पतंग को छज्जे पर जाते देखा। पतंग पकड़ने के लिए वह दौड़कर छज्जे ओर चला। रामेश्वरी खड़ी देखती रहीं। मनोहर उनके पास से होकर छज्जे चला गया, और उनसे दो फीट की दूरी पर खड़ा होकर पतंग को देखने लग पतंग छज्जे पर से होती हुई नीचे घर के आँगन में जा-गिरी। एक पैर की मुंड़ेर पर रखकर मनोहर ने नीचे आँगन में झाँका, और पतंग को आं में गिरते देख प्रसन्नता के मारे फूला न समाया। वह नीचे जाने के लिए शीघ्र से घूमा; परन्तु घूमते समय मुंड़ेर पर से उसका पैर फिसल गया। वह नीचे ओर चला। नीचे जाते-जाते उसके दोनों हाथों में मुँड़ेर आ गई। वह उसे कर लटक गया, और रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"ताई!" रामेश ने धड़कते हुए हृदय से इस घटना को देखा। उनके मन में आया कि अच्छा मरने दो, सदा का पाप कट जायगा। यह सोचकर वह एक क्षण के लिये रु उधर मनोहर के हाथ मुँड़ेर पर से फिसलने लगे। वह अत्यन्त भय तथा नेत्रों से रामेश्वरी की ओर देखकर चिल्लाया—"अरी ताई!" रामेश्वरी आँखें मनोहर की आँखों से जा-मिलीं। मनोहर की वह करुण दृष्टि देख रामेश्वरी का कलेजा मुँह को आ गया। उन्होंने व्याकुल होकर मनोहर पकड़ने के लिए अपना हाथ बढ़ाया। उनका हाथ मनोहर के हाथ तक प

था कि मनोहर के हाथ से मुँड़ेर छूट गई। वह नीचे आ गिरा। रामेश्वरी
ख मारकर छज्जे पर गिर पड़ी।

रामेश्वरी एक सप्ताह तक बुखार में वेहोश पड़ी रही। कभी-कभी वह जोर चिल्ला उठतीं, और कहतीं—"देखो-देखो, वह गिरा जा रहा है—उसे बचाओ -दौड़ो—मेरे मनोहर को बचा लो।" कभी वह कहतीं—"बेटा मनोहर, मैंने नहीं बचाया। हाँ, हाँ, मैं चाहती, तो बचा सकती थी—मैंने देर कर दी।" ी प्रकार के प्रलाप वह किया करतीं।

मनोहर की टाँग उखड़ गई थी। टाँग बिठा दी गई। वह क्रमशः फिर नी असली हालत पर आने लगा।

एक सप्ताह बाद रामेश्वरी का ज्वर कम हुआ। अच्छी तरह होश आने पर होंने पूछा—"मनोहर कैसा है?"

रामजीदास ने उत्तर दिया—"अच्छा है।"

रामेश्वरी—"उसे मेरे पास लाओ।"

मनोहर रामेश्वरी के पास लाया गया। रामेश्वरी ने उसे बड़े प्यार से य से लगाया। आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई, हिचकियों से गला रुँध ा।

रामेश्वरी कुछ दिनों बाद पूर्ण स्वस्थ हो गईं। अब वह मनोहर की बहिन नी से भी द्वेष और घृणा नहीं करतीं और मनोहर तो अब उनका प्राणाधार गया है—उसके बिना उन्हें एक क्षण भी कल नहीं पड़ती।

खूनी

[श्री चतुरसेन शास्त्री]

उसका नाम मत पूछिये। आज दस वर्ष से उस नाम को हृदय से और सूरत को आँखों से दूर करने को पागल हुआ फिरता हूँ। पर वह नाम सूरत सदा मेरे साथ है। मैं डरता हूँ, वह निडर है; मैं रोता हूँ, वह हँसता मैं मर जाऊँगा, वह अमर है।

मेरी उसकी कभी की जान-पहचान न थी। दिल्ली में हमारी गुप्त सभा दल के सब आदमी आये थे, वह भी आया था। मेरा उसकी ओर कुछ न था, वह पास ही खड़ा एक कुत्ते (पिल्ले) से किलोल कर रहा था। दल के नायक ने मेरे पास आकर सहज-गम्भीर स्वर में धीरे से कहा— युवक को अच्छी तरह पहचान लो, इससे तुम्हारा काम पड़ेगा।"

नायक चले गये और मैं युवक की तरफ झुका। मैंने समझा, शायद हम लोगों को कोई एक काम सुपुर्द करेगा।

मैंने युवक से हँसकर कहा—"कैसा प्यारा जानवर है!" युवक ने दूध के समान स्वच्छ आँखें मेरे मुख पर डालकर कहा—"काश! मैं सदोहर भाई होता।" मैं ठठाकर हँस पड़ा। वह मुस्कराकर रह गया बातें हुईं। उसी दिन वह मेरा मित्र बन गया!

दिन-पर-दिन व्यतीत हुए। अछूते प्यार की धाराएँ दोनों हृदयों में उ एक धार हो गईं; सरल अकपट व्यवहार पर दोनों मुग्ध हो गये। वह मुझे गाँव में ले गया, किसी तरह न माना। गाँव के एक किनारे स्वच्छ अ थी। यह गाँव के जमींदार का लड़का था—इकलौता बेटा था, हृदय और का एक-सा। उसकी माँ ने दो दिन में ही मुझे 'बेटा' कहना शुरू किया। होश के दिनों में मैंने वहीं सात दिन माता का स्नेह पाया। फिर चला

फिर गया और आया। अब तो बिना उसके मन न लगता था। दोनों के प्राण दोनों में अटक रहे थे। एक दिन उन्मत्त प्रेम के आवेश में उसने कहा था—"किसी अघट घटना से जो हम दोनों में से एक स्त्री बन जाय, तो मैं तो तुमसे ब्याह ही कर लूं।"

नायक ने कई बार पूछा—"क्यों तुमने मुझे उससे मित्रता करने को कहा ?" वह सदा यही कहते—"समय पर जानोगे।" गुप्त सभा की भयंकर गम्भीरता सब लोग नहीं जान सकते। नायक मूर्तिमान भयंकर गम्भीर थे।

उस दिन भोजन के बाद उसका पत्र मिला। वह मेरी पाकेट में अब भी धरा है। पर किसी को दिखाऊँगा नहीं। उसे देखकर साँस सुख से लेता हूँ, आँसू बहाकर हल्का हो जाता हूँ। किसी पुराने रोगी को जैसे दवा खुराक बन जाती है, मेरी वेदना की भी यह चिट्ठी खुराक बन गई है।

चिट्ठी पढ़ भी न पाया था, नायक ने बुलाया। मैं सामने सरलस्वभाव खड़ा हो गया। बारहों प्रधान हाजिर थे। सन्नाटा भीषण सत्य की तसवीर खींच रहा था। एक ही मिनट में मैं गम्भीर और दृढ़ हो गया। नायक की मर्म-भेदनी दृष्टि मेरे नेत्रों में गड़ गई, जैसे तप्त लोहे के तीर आँख में घुस गये हों। मैं पलक मारना भूल गया, मानों नेत्रों में आग लग गई हो। पाँच मिनट बीत गये। नायक ने गम्भीर वाणी से कहा—"सावधान ! क्या तुम तैयार हो ?"

मैं सचमुच तैयार था। मैं चौंका नहीं। आखिर मैं उसी सभा का परीक्षार्थी सभ्य था। मैंने नियमानुसार सिर झुका दिया। गीता की रक्तवर्ण रेशमी पोथी धीरे से मेज पर रख दी गई। नियमपूर्वक मैंने दोनों हाथों से उठाकर सिर पर चढ़ा ली।

नायक ने मेरे हाथ से पुस्तक ले ली। क्षण भर सन्नाटा रहा। नायक ने एकाएक उनका नाम लिया और क्षण भर में छः नली पिस्तौल मेज पर रख दी।

व छै नामों का शब्द उस पिस्तौल की छओं गोलियों की तरह मस्तक में घुस गया। पर मैं कम्पित नहीं हुआ। प्रश्न करने और कारण पूछने का निषेध था। नियमपूर्वक मैंने पिस्तौल उठाकर छाती पर रखा और स्थान से हटा।

तत्क्षण मैंने यात्रा की। वह स्टेशन पर हाजिर था। अपने पत्र और मेरे प्रेम-पत्र पर इतना भरोसा उसे था; देखते ही लिपट गया। घर गये, चार दिन रहे। वह क्या करता है, क्या कहता है; मैं देख-सुन नहीं सकता था। शरीर सुन्न हो गया था, आत्मा दृढ़ था, हृदय धड़क रहा था; पर विचार स्थिर थे।

चौथे दिन प्रातःकाल जलपान करके हम स्टेशन चले। ताँगा नहीं लिया, जंगल में घूमने जाने का विचार था। काव्यों की बढ़कर आलोचना होती चलती थी। उस मस्ती में वह मेरे मन की उद्विग्नता भी न देख सका। धूप और खिली। पसीने बह चले। मैंने कहा—"चलो कहीं छाँह में बैठें।" घना कुञ्ज सामने था; वहीं गये। बैठते ही जेब से दो अमरूद निकालकर उसने कहा—सिर्फ दो ही पके थे। घर के बगीचे के हैं। यहीं बैठकर खाने के लिए लाया हूँ। एक तुम्हारा; एक मेरा।"

मैंने चुपचाप अमरूद लिया और खाया। एकाएक मैं उठ खड़ा हुआ। वह आधा अमरूद खा चुका था; उसका ध्यान उसी के स्वाद में था। मैंने धीरे से पिस्तौल निकाली; घोड़ा चढ़ाया और अकम्पित स्वर में उसका नाम लेकर कहा—"अमरूद फेंक दो और भगवान का नाम लो; मैं तुम्हें गोली मारता हूँ।"

उसे विश्वास न हुआ। उसने कहा—"बहुत ठीक, पर इसे खा तो लेने दो!" मेरा धैर्य छूट रहा था। मैंने दबे कंठ से कहा—"अच्छा खा लो।" खाकर वह खड़ा हो गया, सीधा तन कर। उसने कहा—"अच्छा मारो गोली!" मैंने कहा—"हँसी मत समझो। मैं तुम्हें गोली ही मारता हूँ, भगवान का नाम लो।" उसने हँसी में ही भगवान का नाम लिया और फिर वह नकली गम्भीरता से खड़ा हो गया। मैंने एक हाथ से अपनी छाती दबा कर कहा—"ईश्वर की सौगन्ध! हँसी मत समझो, मैं तुम्हें गोली मारता हूँ!"

मेरी आँखों में वही कच्चे दूध के समान स्वच्छ आँखें मिला कर उसने कहा—"मारो।"

एक-क्षण भर भी विलम्ब करने से मैं कर्त्तव्य-विमुख हो जाता। पल-पल में साहस डूब रहा था। दनादन दो शब्द गूँज उठे। वह कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा। दोनों गोलियाँ छाती को पार कर गईं।

मैं भागा नहीं। भय से इधर-उधर मैंने देखा भी नहीं। रोया भी नहीं। मैंने उसे गोद में उठाया। मुँह की धूल पोंछी, रक्त साफ किया। आँखों में इतनी ही देर में कुछ-का-कुछ हो गया था। देर तक लिये बैठा रहा; जैसे माँ सोते बच्चे को—जगने के भय से—लिये, निश्चल बैठी रहती है।

मैं उठा। ईंधन चुना। चिता बनाई और जलाई। अन्त तक बैठा रहा।

बारहों प्रधान हाजिर थे। इसी स्थान पर जाकर मैं खड़ा हुआ। नायक ने खड़े होकर नीरव हाथ बढ़ाकर पिस्तौल माँगी। पिस्तौल दे दी। कार्य-सिद्धि का

संकेत सम्पूर्ण हुआ। नायक ने खड़े होकर वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा—"तेरहवें प्रधान की कुर्सी हम तुम्हें देते हैं।"

मैंने कहा—"तेरहवें प्रधान की हैसियत से मैं पूछता हूँ कि उनका अपराध मुझे बताया जाय।"

नायक ने नम्रता-पूर्वक जवाब दिया—"वह हमारे हत्या-सम्बन्धी षड्यन्त्रों का विरोधी था, हमें उस पर सरकारी मुखबिर होने का सन्देह था।"

मैं कुछ कहने योग्य न रहा!

नायक ने वैसे ही गम्भीरता से कहा—"नवीन प्रधान की हैसियत से तुम यथेच्छ (एक) पुरस्कार माँग सकते हो।"

अब मैं रो उठा। मैंने कहा—"मुझे मेरे वचन फेर दो, मुझे मेरी प्रतिज्ञाओं से मुक्त करो, मैं उसी के समुदाय का हूँ। तुम लोगों में नंगी छाती पर तलवार के घाव खाने की मरदानगी न हो, तो अपने को देश-भक्त कहने में संकोच करो। तुम्हारी इन कायर हत्याओं को मैं घृणा करता हूँ। मैं हत्यारों का साथी, सलाही और मित्र नहीं बन सकता, तुम तेरहवीं कुर्सी जला दो।"

नायक को क्रोध न आया। बारहों प्रधान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे रहे। नायक ने उसी गम्भीर स्वर में कहा—"तुम्हारे इन शब्दों की सजा मौत है, पर नियमानुसार तुम्हें क्षमा पुरस्कार में दी जा सकती है।"

मैं उठकर चला गया।

दस वर्ष व्यतीत हो गये। देश भर में घूमा, कहीं ठहरा नहीं; भूख-प्यास, विश्राम और शान्ति की इच्छा ही मर गई दीखती है। बस, अब वही पत्र मेरे नेत्र और हृदय की रोशनी है। मेरा वारंट निकला था। मन में आई, फाँसी पर जा चढ़ूँ; फिर सोचा- 'मरते ही उस सज्जन को भूल जाऊँगा। मरने में अब क्या स्वाद है? जीना चाहता हूँ। किसी तरह जीते रहने की लालसा मन में बसी है, जीते जी ही मैं उसे देख और याद कर सकता हूँ!

उसने कहा था

[श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी]

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जवान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की उँगलियों के पोरों को चीथ कर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं, और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिये ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ा कर 'बचो खालसा जी!' 'हटो भाई जी!' 'ठहरना भाई!' 'आने दो लाला जी!' 'हटो बाछा!'[1] कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है, कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिये; हट जा करमा वालिये, हट जा पुत्ताँ प्यारिये; बच जा लम्बी वालिये। समष्टि में इनके अर्थ हैं कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है?—बच जा।

---

१. बादशाह।

ऐस बम्बूकार्ट वालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उनके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था, और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं ?"

"मगरे में;—और तेरे ?"

"माँझे में;— यहाँ कहाँ रहती है ?"

"अतर सिंह की बैठक में; वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाजार में है।"

इतने में दूकानदार निबटा, और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकरा कर पूछा—"तेरी कुड़माई[1] हो गई ?"

इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई, और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई ?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—"हाँ हो गई।"

"कब ?"

"कल; देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ 'सालू'[2]।"

लड़की भाग गई। लड़केने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ी वाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

---

१. मँगनी। २. ओढ़नी।

(२)

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है ! दिन-रात खन्दकों में बैठे-बैठे हड्डियां अकड़ गईं। लुधियाना से दस-गुना जाड़ा और मेंह, और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखता नहीं;—घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न-मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहना सिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायगी, और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका[1] करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी[2] मेम के बाग में—मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी ! बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जरमनों को अकेला मार कर न लौटूं, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते है, और पैर पकड़ने लगते है। यों अंधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों ?" सूबेदार हजारा सिंह ने मुसकरा कर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा ?"

"सूबेदार जी, सच है" लहना सिंह बोला—"पर करें क्या ? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय।"

---

१. बकरा मारना। २. फ्रैंच।

"उदमी,[1] उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बालटियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।"—यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरा सिंह पलटन का विदूषक था। बालटी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" उस पर सब खिलखिला पड़े, और उदासी के बादल फट गये।

लहना सिंह ने दूसरी बालटी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी वाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा[2] जमीन यहीं माँग लूंगा और फलों के बूटे[3] लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ[4] को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फरंगी मेम—"

"चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देश देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिये लड़ेगा नहीं।"

"अच्छा, अब बोध सिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है, और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे[5] नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरत

१. उद्यमी। २. जमीन का माप। ३. पेड़। ४. स्त्री-होराँ=आदर वाचक।
५. नई नहरों के पास वर्गभूमि।

सिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

वजीरा सिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कैसे—"

दिल्ली शहर तें पिशौर नुँ जांदिये,
कर लेणा लौंगां दा बपार मडिये;
कर लेणा नाड़ेदा सौदा अड़िये—
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुँ।
कद्दू बणाया वे मजेदार गोरिये
हुण लाणा चटाका कदुए नुँ॥[1]

कौन जानता था कि दाढ़ियों वाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अन्धेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोध सिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर सो रहता है। लहना सिंह के दो कम्वल और एक बरानकोट[2] ओढ़कर सो रहता है। लहना सिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक वोध सिंह के दुवले शरीर पर। बोध सिंह कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है?"

"पानी पिला दो।"

लहना सिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो?" पानी पीकर वोधा वोला—"कँपनी[3] छुट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत वज रहे हैं।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।"

---

१. अरी दिल्ली शहर से पेशावर को जानेवाली, लौंगों का व्यापार कर ले और इजारबन्द का सौदा कर ले। जीभ चटचटा कर कद्दू खाना है। गोरी! कद्दू मजेदार बना है। अब चटचटा कर उसे खाना। २. ओवर कोट।
३. कँपकँपी।

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—"

"हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज स्वेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करे।" यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन कर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घण्टा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई,—"सूबेदार हजारा सिंह !"

"कौन लपटन साहब ? हुकुम हुजूर"—कह कर सूबेदार तन॰कर फौजी सलाम करके सामनें हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुप-चाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतार कर चलने लगा तब लहना सिंह ने उसे रोका। लहना सिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहना सिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ा कर कहा—"लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहना सिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर

बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों-वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहना सिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेन्ट में थे।

"क्यों साहब हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गये थे—'हाँ-हाँ'—वहीं जब आप खोते[1] पर सवार थे और आप का खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था? "बेशक पाजी कहीं का"—सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा। क्यों साहब शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रजमंट की मैस में लगायेंगे। 'हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया'—ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहना सिंह दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कह कर लहना सिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन? वजीरा सिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या, कयामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?"

---

१. गधे।

४

"होश में आओ। कयामत आई और लपटन साहब की वर्दी पेहनकर आई है।"

क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा[1] साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब ?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होरा कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ, खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम—जमादार लहना सिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ ?"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले आओ।"

लौट कर खाई के मुहाने पर लहना सिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने ही वाले थे।

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठाकर लहना सिंह ने

---

१. सुसरा (गाली)।

साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहना सिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा। और साहब 'आँख ![1] मीन गौट्ट' कहते हुए चित्त हो गये। लहना सिंह ने तीनों गोले बीन कर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहना सिंह हँस कर बोला—"क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये। हमारे लपटन साहब तो बिना डैम के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानों जाड़े से बचाने के लिये दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहना सिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो, पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आँखें चाहियें। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने के तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा[2] बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गो हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो; सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी।

---

१. हाय! मेरे राम (जर्मन)। २. खटिया।

इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहना सिंह ने उसे यह कह कर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था ! मार दिया', और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधीं। घाव मांस में ही था ! पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहना सिंह तक-तक कर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुस आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई—'वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा !!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारा सिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहना सिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—'अकाली सिक्खाँ दी फौज आई। वाह गुरुजी दी फतह ! वाह गुरुजी दा खालसा ! सतश्री अकाल पुरुष !!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे ! सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गई। लहना सिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कस कर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी की वाण भट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरा सिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहना सिंह से सारा

हाल सुन और कागजात पाकर, वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे ! कि तू न होता तो आज सब मारे जाते ।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी । उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था । वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुँचीं । फील्ड अस्पताल नजदीक था । सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँध कर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं । सूवेदार ने लहना सिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही । पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सवेरे देखा जायगा । बोधा सिंह ज्वर में बर्रा रहा था । वह गाड़ी में लिटाया गया । लहना को छोड़ कर सूवेदार जाते नहीं थे । यह देख लहना ने कहा—"तुम्हें बोधा की कसम है, और सूवेदारनी जी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मूर्दों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी । मेरा हाल बुरा नहीं है । देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरा सिंह मेरे पास है ही ।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला । आप भी चढ़ जाओ । सुनिये तो, सूवेदारनी होरां को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना । और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया ।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं । सूवेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—"तैंने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं । लिखना कैसा ? साथ ही घर चलेंगे । अपनी सूवेदारनी को तू ही कह देना । उसने क्या कहा था ?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ । मैंने जो कहा, वह लिख देना, और कह भी देना ।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया ।—"वजीरा पानी पिला दे, और मेरा कमरबन्द खोल दे । तर हो रहा है ।"

५

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है । जन्म भर की घट-

नायें एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहना सिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब धत् कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलों वाला सालू?" सुनते ही लहना सिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वसीरा सिंह पानी पिला दे।"

× × ×

पचीसों वर्ष बीत गये। अब लहना सिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेन्ट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारा सिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधा सिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहना सिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार वेढ़े[1] में से निकल कर आया। बोला—'लहना। सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा, मिल आ।' लहना सिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेन्ट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना!' कहा। असीस सुनो। लहना सिंह चुप।

मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

'तेरी कुड़माई हो गई—धत्—कल हो गई—देखते नहीं, रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

---

१. जनाने।

भावों की टकराहठ से मूर्छा खुली। करवट बदलती, पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

× × ×

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[1] की घंघरिया पलटन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दही वाले की दूकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़ों की लातों में चले गये थे, और मुझे उठा कर दूकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती रोती सूबेदारनी ओवरी[2] में चली गई। लहना भी आँसू पोछता हुआ बाहर आया।

'वजीरा सिंह पानी पिला'—'उसने कहा था।'

× × ×

लहना का सिर गोद में रखे वजीरा सिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—"कौन! कीरत सिंह?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—"हाँ।"

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट[3] पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस अब के हाड़[4] में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा

---

१. स्त्रियों। २. अन्दर का घर। ३. जांघ। ४. आषाढ़।

भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरा सिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेल जियम, ६८वीं सूची-मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहना सिंह।

——

ईदगाह

[श्री प्रेमचन्द]

रमजान के पूरे तीस रोजों के बाद आज ईद आई है। कितना मनोहर, कितना सुहावना प्रभात है। वृक्षों पर कुछ अजीब हरियाली है, खेतों में कुछ अजीब रौनक है, आसमान पर कुछ अजीब लालिमा है। आज का सूर्य देखो, कितना प्यारा, कितना शीतल है, मानो संसार को ईद की बधाई दे रहा है। गाँव में कितनी हलचल है। ईदगाह जाने को तैयारियाँ हो रही हैं। किसी के कुरते में बटन नहीं है। पड़ोस के घर में सुई-तागा लेने दौड़ा जा रहा है। किसी के जूते कड़े हो गये हैं, उनमें तेल डालने के लिए तेली के घर भागा जाता है। जल्दी-जल्दी बैलों को सानी-पानी दे दें। ईदगाह से लौटते-लौटते दोपहर हो जायगा। तीन कोस का पैदल रास्ता, फिर सैकड़ों आदमियों से मिलना-भेंटना। दोपहर के पहले लौटना असम्भव है। लड़के सबसे ज्यादा प्रसन्न हैं। किसी ने एक रोजा रखा है, वह भी दोपहर तक, किसी ने वह भी नहीं; लेकिन ईदगाह जाने की खुशी उनके हिस्से की चीज है। रोजे बड़े-बूढ़ों के लिए होंगे। इनके लिए तो ईद है। रोज ईद का नाम रटते थे। आज वह आ गई। अब जल्दी पड़ी है कि लोग ईदगाह क्यों नहीं चलते। इन्हें गृहस्थी की चिन्ताओं से क्या प्रयोजन! सेवैयों के लिए दूध और शक्कर घर में है या नहीं, इनकी बला से, ये तो सेवैयाँ खायेंगे। वह क्या जाने अब्बाजान क्यों बदहवास चौधरी कायमअली के घर दौड़े जा रहे हैं। उन्हें क्या खबर कि चौधरी आज आँखें बदल लें, तो यह सारी ईद मुहर्रम हो जाय। उनकी अपनी जेबों में तो कुबेर का धन भरा हुआ है। बार-बार जेब से अपना खजाना निकालकर गिनते हैं, और खुश होकर फिर रख लेते हैं। महमूद गिनता है, एक, दो, दस, बारह! उसके पास बारह पैसे हैं। मोहसिन के पास एक, दो, तीन, आठ, नौ, पन्द्रह पैसे हैं। इन्हीं अन-

गिनती पैसों में अनगिनती चीजें लायेंगे—खिलौने, मिठाइयाँ, बिगुल, गेंद और जाने क्या-क्या। और सबसे ज्यादा प्रसन्न है हामिद, वह चार-पाँच साल का गरीब-सूरत, दुबला-पतला लड़का, जिसका बाप गत वर्ष हैजे की भेंट हो गया और माँ न जाने क्यों पीली होती-होती एक दिन मर गई। किसी को पता न चला क्या बीमारी है। कहती भी तो कौन सुननेवाला था। दिल पर जो कुछ बीतती थी, वह दिल में ही सहती थी और जब न सहा गया तो संसार से विदा हो गई। अब हामिद अपनी बूढ़ी दादी अमीना की गोद में सोता है और उतना ही प्रसन्न है। उसके अब्बाजान रुपये कमाने गये हैं। बहुत-सी थैलियाँ लेकर आयेंगे। अम्मीजान अल्लाह मियाँ के घर से उसके लिए बड़ी अच्छी-अच्छी चीजें लाने गई हैं; इसलिए हामिद प्रसन्न है। आशा तो बड़ी चीज है, और फिर बच्चों की आशा! उनकी कल्पना तो राई का पर्वत बना लेती है। हामिद के पाँव में जूते नहीं हैं, सिर पर एक पुरानी-धुरानी टोपी है, जिसका गोटा काला पड़ गया है, फिर भी वह प्रसन्न है। जब उसके अब्बाजान थैलियाँ और अम्मीजान नियामतें लेकर आयेंगी, तो वह दिल के अरमान निकाल लेगा। तब देखेगा महमूद और मोहसिन और नूरे और सम्मी कहाँ से उतने पैसे निकालेंगे। अभागिनी अमीना अपनी कोठरी में बैठी रो रही है। आज ईद का दिन और उसके घर में दाना नहीं! आज आबिद होता तो क्या इसी तरह ईद आती और चली जाती? इस अन्धकार और निराशा में वह डूबी जा रही है। किसने बुलाया था इस निगोड़ी ईद को। इस घर में उसका काम नहीं है; लेकिन हामिद! उसे किसी के मरने-जीने से क्या मतलब? उसके अन्दर प्रकाश है, बाहर आशा। विपत्ति अपना सारा दलबल लेकर आये, हामिद की आनन्द-भरी चितवन उसका विध्वंस कर देगी।

हामिद भीतर जाकर दादी से कहता है—तुम डरना नहीं अम्माँ, मैं सब से पहले आऊँगा। बिलकुल न डरना।

अमीना का दिल कचोट रहा है। गाँव के बच्चे अपने-अपने बाप के साथ जा रहे हैं। हामिद का बाप अमीना के सिवा और कौन है। उसे कैसे अकेले मेले जाने दे। उस भीड़-भाड़ में बच्चा कहीं खो जाय तो क्या हो। नहीं, अमीना उसे यों न जाने देगी। नन्हीं-सी जान! तीन कोस चलेगा कैसे! पैर में छाले पड़ जायेंगे। जूते भी तो नहीं हैं। वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर उसे गोद ले लेगी; लेकिन यहाँ सेवैयाँ कौन पकायेगा? पैसे होते तो लौटते-लौटते सब सामग्री जमा

करके चटपट बना लेती। यहाँ तो घण्टों चीजें जमा करते लगेंगे। माँगे ही का तो भरोसा ठहरा। उस दिन फहीमन के कपड़े सिये थे। आठ आने पैसे मिले थे। उस अठन्नी को ईमान की तरह बचाती चली आती थी इसी ईद के लिए; लेकिन कल ग्वालन सिर पर सवार हो गई तो क्या करती। हामिद के लिए कुछ नहीं है तो दो पैसे का रोज दूध तो चाहिये ही। अब कुल दो आने पैसे बच रहे हैं। तीन पैसे हामिद की जेब में, पाँच अमीना के बटवें में। यही तो बिसात है। और ईद का त्योहार, अल्लाह ही वेड़ा पार लगावे। धोबन और नाइन और मेहतरानी और चूड़ीहारिन सभी आयँगी। सभी को सेवैयाँ चाहिये और थोड़ा किसी की आँखों नहीं लगता। किस-किस से मुँह चुरायेगी। और मुँह क्यों चुराये? साल-भर का त्योहार है। जिन्दगी खैरियत से रहे, उनकी तकदीर भी तो उसी के साथ है। बच्चे को खुदा सलामत रखे, ये दिन भी कट जायँगे।

गाँव से मेला चला। और बच्चों के साथ हामिद भी जा रहा था। कभी सब-के-सब दौड़कर आगे निकल जाते। फिर किसी पेड़ के नीचे खड़े होकर साथ वालों का इन्तजार करते। यह लोग क्यों इतना धीरे-धीरे चल रहे हैं? हामिद के पैरों में तो जैसे पर लग गये हैं। वह कभी थक सकता है! शहर का दामन आ गया। सड़क के दोनों ओर अमीरों के बगीचे हैं। पक्की चारदीवारी बनी हुई है। पेड़ों में आम और लीचियाँ लगी हुई हैं। कभी-कभी कोई लड़का कंकड़ी उठाकर आम पर निशाना लगाता है। माली अन्दर से गाली देता हुआ निकलता है। लड़के वहाँ से एक फ़र्लांग पर हैं। खूब हँस रहे हैं। माली को कैसा उल्लू बनाया है।

बड़ी-बड़ी इमारतें आने लगीं। यह अदालत है, यह कॉलेज है, यह क्लबघर है। इतने बड़े कॉलेज में कितने लड़के पढ़ते होंगे! सब लड़के नहीं हैं जो! बड़े-बड़े आदमी हैं, सच उनकी बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। इतने बड़े हो गये, अभी तक पढ़ते जाते हैं। न जाने कब तक पढ़ेंगे और क्या करेंगे इतना पढ़कर। हामिद के मदरसे में दो-तीन बड़े-बड़े लड़के हैं, बिलकुल तीन कौड़ी के, रोज मार खाते हैं, काम से जी चुरानेवाले। इस जगह भी उसी तरह के लोग होंगे और क्या। क्लबघर में जादू होता है। सुना है यहाँ मुर्दों की खोपड़ियाँ दौड़ती हैं और बड़े-बड़े तमाशे होते हैं; पर किसी को अन्दर नहीं जाने देते। और यहाँ शाम को साहब लोग खेलते हैं। बड़े-बड़े आदमी खेलते हैं, मूँछों-दाढ़ी वाले। और मेमें भी खेलती हैं, सच! हमारी अम्माँ को वह दे दो, क्या नाम है, बैट, तो उसे

पकड़ ही न सकें। घुमाते ही लुढ़क जायँ।

महमूद ने कहा—हमारी अम्मीजान का तो हाथ काँपने लगे, अल्ला कसम।

मोहसिन बोला—चलो, मनों आटा पीस डालती हैं। जरा-सा बैट पकड़ लेंगी तो हाथ काँपने लगेंगे। सैकड़ों घड़े पानी रोज निकालती हैं। पाँच घड़े तो तेरी भैंस पी जाती है। किसी मेम को एक घड़ा पानी भरना पड़े तो आँखों तले अँधेरा आ जाय।

महमूद—लेकिन दौड़तीं तो नहीं, उछल-कूद तो नहीं सकतीं।

मोहसिन हाँ, उछल-कूद नहीं सकतीं; लेकिन उस दिन मेरी गाय खुल गई थी और चौधरी के खेत में जा पड़ी थी, तो अम्मा इतना तेज दौड़ीं कि मैं उन्हें न पा सका, सच।

आगे चले। हलवाइयों की दूकानें शुरू हुईं। आज खूब सजी हुई थीं। इतनी मिठाइयाँ कौन खाता है। देखो न, एक-एक दूकान पर मनों होंगी। सुना है, रात को जिन्नात आकर खरीद ले जाते हैं। अब्बा कहते थे कि आधी रात को एक आदमी हर दूकान पर जाता है और जितना माल बचा होता है, वह सब तुलवा लेता है और सचमुच के रुपये देता है, बिलकुल ऐसे ही रुपये।

हामिद को यकीन न आया—ऐसे रुपये जिन्नात को कहाँ से मिल जायँगे?

मोहसिन ने कहा—जिन्नात को रुपयों की कमी? जिस खजाने में चाहें चले जायँ। लोहे के दरवाजे तक उन्हें नहीं रोक सकते जनाब, आप हैं किस फेर में। हीरे-जवाहरात तक उनके पास रहते हैं। जिससे खुश हो गये, उसे टोकरों जवाहरात दे दिये। अभी यहाँ बैठे हैं, पाँच मिनट में कहो कलकत्ता पहुँच जायँ।

हामिद ने फिर पूछा—जिन्नात बहुत बड़े-बड़े होते होंगे?

मोहसिन—एक-एक आसमान के बराबर होता है जी। जमीन पर खड़ा हो जाय तो उसका सिर आसमान से जा लगे; मगर चाहें तो एक लोटे में घुस जायँ।

हामिद—लोग उन्हें कैसे खुश करते होंगे। कोई मुझे वह मन्तर बता दे, तो एक जिन्न को खुश कर लूं।

मोहसिन—अब यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन चौधरी साहब के काबू में बहुत से जिन्नात हैं। कोई चीज चोरी जाय, चौधरी साहब उसका पता लगा देंगे और चोर का नाम भी बता देंगे। जुमेराती का बछवा उस दिन खो गया

था। तीन दिन हैरान हुए, कहीं न मिला। तब झक मारकर चौधरी के पा
गये। चौधरी ने तुरन्त बता दिया मवेशीखाने में है, और वहीं मिला। जिन्ना
आकर उन्हें सारे जहान की खबरें दे जाते हैं।

अब सबकी समझ में आ गया कि चौधरी के पास क्यों इतना धन है, औ
क्यों उनका इतना सम्मान है।

आगे चले। यह पुलिस लाइन है। यहीं सब कानिसटिबल कवायद कर
हैं। रैटन ! फाय फो ! रात को बेचारे घूम-घूमकर पहरा देते हैं, नहीं चोरि
हो जायँ।

मोहसिन ने प्रतिवाद किया—यह कानिसटिबल पहरा देते हैं ! तभी तु
बहुत जानते हो। अजी हजरत यही चोरी कराते हैं। शहर के जितने चोर-डा
हैं, सब इनसे मिले रहते हैं। रात को ये लोग चोरों से तो कहते हैं चोरी कर
और आप दूसरे मुहल्ले में जाकर 'जागते रहो ! जागते रहो' पुकारते हैं जभ
इन लोगों के पास इतने रुपये आते हैं। मेरे मामूं एक थाने में कानिसटिब
हैं। बीस रुपये महीना पाते हैं; लेकिन पचास रुपये घर भेजते हैं। अल्ला कसम
मैंने एक बार पूछा था कि मामूं, आप इतने रुपये कहाँ से लाते हैं। हँसकर कह
लगे—बेटा, अल्लाह देता है। फिर आप ही बोले—हम लोग चाहें तो ए
दिन में लाखों मार लायें। हम तो इतना ही लेते हैं, जिसमें अपनी बदनामी न
हो और नौकरी न चली जाय।

हामिद ने पूछा—यह लोग चोरी करवाते हैं तो कोई इन्हें पकड़ता नहीं ?

मोहसिन उसकी नादानी पर दया दिखाकर बोला—अरे पागल, इन्हें कौ
पकड़ेगा ? पकड़नेवाले तो यह लोग खुद हैं; लेकिन अल्लाह इन्हें सजा भी खू
देता है। हराम का माल हराम में जाता है। थोड़े दिन हुए मामूं के घर में आग
लग गई। सारी लेई-पूंजी जल गई। एक बरतन तक न बचा। कई दिन पे
के नीचे सोये, अल्ला कसम, पेड़ के नीचे। फिर न जाने कहाँ से एक सौ कर्ज
लाये तो बरतन-भाँड़े आये।

हामिद—एक सौ तो पचास से ज्यादे होते हैं ?

'कहाँ पचास, कहाँ एक सौ ! पचास एक थैली भर होता है। सौ तो दो
थैलियों में भी न आवें।'

अब बस्ती घनी होने लगी थी। ईदगाह जानेवालों की टोलियाँ नजर आने
लगीं। एक-से-एक भड़कीले वस्त्र पहने हुए। कोई इक्के-ताँगे पर सवार, कोई

मोटर पर, सभी इत्र में बसे, सभी के दिलों में उमंग। ग्रामीणों का यह छोटा-सा दल, अपनी विपन्नता से बेखबर, सन्तोष और धैर्य में मगन चला जा रहा था। बच्चों के लिए नगर की सभी चीजें अनोखी थीं। जिस चीज की ओर ताकते, ताकते ही रह जाते। और पीछे से बार-बार हार्न की आवाज़ होने पर भी न चेतते। हामिद तो मोटर के नीचे जाते-जाते बचा।

सहसा ईदगाह नजर आया। ऊपर इमली के घने वृक्षों का साया है। नीचे पक्का फर्श है, जिस पर जाजिम बिछा हुआ है। और रोज़ेदारों की पंक्तियाँ एक के पीछे एक न जाने कहाँ तक चली गई हैं, पक्के जगत के नीचे तक, जहाँ जाजिम भी नहीं है। नये आने वाले आकर पीछे की कतार में खड़े हो जाते हैं। आगे जगह नहीं है। यहाँ कोई धन और पद नहीं देखता। इस्लाम की निगाह में सब बराबर हैं। इन ग्रामीणों ने भी वज़ू किया और पिछली पंक्ति में खड़े हो गये। कितना सुन्दर सञ्चालन है, कितनी सुन्दर व्यवस्था! लाखों सिर एक साथ सिजदे में झुक जाते हैं, फिर सब-के-सब एक साथ खड़े हो जाते हैं, एक साथ झुकते हैं और एक साथ घुटनों के बल बैठ जाते हैं। कई बार यही क्रिया होती है, जैसे बिजली की लाखों बत्तियाँ एक साथ प्रदीप्त हों और एक साथ बुझ जायँ, और यही क्रम चलता रहे। कितना अपूर्व दृश्य था, जिसकी सामूहिक क्रियाएँ विस्तार और अनन्तता हृदय को श्रद्धा, गर्व और आत्मानन्द से भर देती थीं, मानो भ्रातृत्व का एक सूत्र इन समस्त आत्माओं को एक लड़ी में पिरोये हुए है।

(२)

नमाज खत्म हो गई है। लोग आपस में गले मिल रहे हैं। तब मिठाई और खिलौनों की दूकानों पर धावा होता है। ग्रामीणों का यह दल इस विषय में बालकों से कम उत्साही नहीं है। यह देखो हिंडोला है। एक पैसा देकर चढ़ जाओ। कभी आसमान पर जाते हुए मालूम होंगे, कभी जमीन पर गिरते हुए। यह चर्खी है, लकड़ी के हाथी, घोड़े, ऊँट छड़ों से लटके हुए हैं। एक पैसा देकर बैठ जाओ और पच्चीस चक्करों का मजा लो। महमूद और मोहसिन और नूरे और सम्मी इन घोड़ों और ऊँटों पर बैठते हैं। हामिद दूर खड़ा है। तीन ही पैसे तो उसके पास हैं। अपने कोष का एक तिहाई जरा-सा चक्कर खाने के लिए नहीं दे सकता।

सब चर्खियों से उतरते हैं। अब खिलौने लेंगे। इधर दूकानों की कतार

लगी हुई है। तरह-तरह के खिलौने हैं—सिपाही और गुजरियाँ, और राजा और वकील, और भिश्ती और धोबिन और साधू। वाह! कितने सुन्दर खिलौने हैं! अब बोला ही चाहते हैं। महमूद सिपाही लेता है, खाकी वर्दी और लाल पगड़ी वाला, कन्धे पर बन्दूक रखे हुए, मालूम होता है अभी कवायद किये चला आ रहा है। मोहसिन को भिश्ती पसन्द आया। कमर झुकी हुई है, ऊपर मशक रखे हुए है, मशक का मुँह एक हाथ से पकड़े हुए है। कितना प्रसन्न है। शायद कोई गीत गा रहा है। बस, मशक से पानी उड़ेला ही चाहता है। नूरे को वकील से प्रेम है। कैसी विद्वत्ता है उनके मुख पर, काला चुगा, नीचे सफेद अचकन, अचकन के सामने की जेब में घड़ी की सुनहरी जञ्जीर, एक हाथ में कानून का पोथा लिये हुए। मालूम होता है, अभी किसी अदालत से जिरह या बहस किये चले आ रहे हैं। यह सब दो-दो पैसे के खिलौने हैं। हामिद के पास कुल तीन पैसे हैं। इतने महँगे खिलौने वह कैसे ले? खिलौना कहीं हाथ से छूट पड़े, तो चूर-चूर हो जाय। जरा पानी पड़े तो सारा रङ्ग धुल जाय। ऐसे खिलौने लेकर वह क्या करेगा, किस काम के!

मोहसिन कहता है—मेरा भिश्ती रोज पानी दे जायगा। साँझ-सबेरे।

महमूद—और मेरा सिपाही घर का पहरा देगा। कोई चोर आयेगा, तो फौरन् बन्दूक फैर कर देगा।

नूरे—और मेरा वकील खूब मुकदमा लड़ेगा।

सम्मी—और मेरी धोबिन रोज कपड़े धोयेगी।

हामिद खिलौनों की निन्दा करता है—मिट्टी ही के तो हैं, गिरें तो चकना चूर हो जायँ; लेकिन ललचाई हुई आँखों से खिलौनों को देख रहा है और चाहता है कि जरा देर के लिए उन्हें हाथ में ले सकता। उसके हाथ अनायास ही लपकते हैं; लेकिन लड़के इतने त्यागी नहीं होते, विशेषकर जब अभी नया शौक है। हामिद ललचता रह जाता है।

खिलौनों के बाद मिठाइयाँ आती हैं। किसी ने रेउड़ियाँ ली हैं, किसी ने गुलाबजामुन, किसी ने सोहन हलवा। मजे से खा रहे हैं। हामिद उनकी बिरादरी से पृथक् है। अभागे के पास तीन पैसे हैं। क्यों नहीं कुछ लेकर खाता? ललचाई आँखों से सबकी ओर देखता है।

मोहसिन कहता है—हामिद यह रेउड़ी ले जा, कितनी खुशबूदार हैं!

हामिद को सन्देह हुआ, यह केवल क्रूर विनोद है, मोहसिन इतना उदार

नहीं है; लेकिन यह जानकर भी वह उसके पास जाता है। मोहसिन दोने से एक रेउड़ी निकालकर हामिद की ओर बढ़ाता है। हामिद हाथ फैलाता है। मोहसिन रेउड़ी अपने मुँह में रख लेता है। महमूद, नूरे और सम्मी खूब तालियाँ बजा-बजाकर हँसते हैं। हामिद खिसिया जाता है।

मोहसिन—अच्छा अबकी जरूर देंगे हामिद, अल्ला कसम ले जाव।

हामिद—रखे रहो। क्या मेरे पास पैसे नहीं हैं ?

सम्मी—तीन ही पैसे तो हैं। तीन पैसे में क्या-क्या लोगे ?

महमूद—हमसे गुलाबजामुन ले जाव हामिद। मोहसिन बदमाश है।

हामिद—मिठाई कौन बड़ी नेमत है। किताब में इसकी कितनी बुराइयाँ लिखी हैं।

मोहसिन—लेकिन दिल में कह रहे होगे कि मिले तो खा लें। अपने पैसे क्यों नहीं निकालते ?

महमूद—हम समझते हैं इसकी चालाकी। जब हमारे सारे पैसे खर्च हो जायँगे, तो हमें ललचा ललचाकर खायगा।

मिठाइयों के बाद कुछ दुकानें लोहे की चीजों की हैं। कुछ गिलट और नकली गहनों की। लड़कों के लिए यहाँ कोई आकर्षण न था। वह सब आगे बढ़ जाते हैं। हामिद लोहे की दूकान पर रुक जाता है। कई चिमटे रखे हुए थे। उसे खयाल आया, दादी के पास चिमटा नहीं है। तवे से रोटियाँ उतारती हैं, तो हाथ जल जाता है; अगर वह चिमटा ले जाकर दादी को दे दे, तो वह कितनी प्रसन्न होंगी। फिर उनकी उँगलियाँ कभी न जलेंगी। घर में एक काम की चीज हो जायगी। खिलौनों से क्या फायदा। व्यर्थ में पैसे खराब होते हैं। जरा देर ही तो खुशी होती है। फिर तो खिलौनों को कोई आँख उठाकर नहीं देखता। या तो घर पहुँचते-पहुँचते टूट फूट बराबर हो जायँगे, या छोटे बच्चे जो मेले नहीं आये हैं, जिद करके ले लेंगे और तोड़ डालेंगे। चिमटा कितने काम की चीज है। रोटियाँ तवे से उतार लो, चूल्हे में सेंक लो। कोई आग माँगने आवे तो चटपट चूल्हे से आग निकाल कर उसे दे दो। अम्मा बेचारी को कहाँ फुरसत है कि बाजार आयें, और इतने पैसे ही कहाँ मिलते हैं। रोज हाथ जला लेती हैं। हामिद के साथी आगे बढ़ गये हैं। सबील पर सब के सब शर्बत पी रहे हैं। देखो सब कितने लालची हैं। इतनी मिठाइयाँ लीं, मुझे किसी ने एक भी न दी। उस पर कहते हैं, मेरे साथ खेलो। मेरा यह काम करो। अब अगर

किसी ने कोई काम करने को कहा तो पूछूँगा। खायँ मिठाइयाँ, आप मुँह सड़ेगा, फोड़े-फुन्सियाँ निकलेंगी, आप ही जबान चटोरी हो जायगी। तब घर से पैसे चुरायेंगे और मार खायँगे। किताब में झूठी बातें थोड़े ही लिखी हैं। मेरी जवान क्यों खराब होगी। अम्मा चिमटा देखते ही दौड़कर मेरे हाथ से ले लेंगी और कहेंगी—मेरा बच्चा अम्मा के लिए चिमटा लाया है! हजारों दुआएँ देंगी। फिर पड़ोस की औरतों को दिखायेंगी। सारे गाँव में चरचा होने लगेगी, हामिद चिमटा लाया है। कितना अच्छा लड़का है। इन लोगों के खिलौनों पर कौन इन्हें दुआएँ देगा। बड़ों की दुआएँ सीधे अल्लाह के दरबार में पहुँचती हैं, और तुरन्त सुनी जाती हैं। मेरे पास पैसे नहीं हैं। तभी तो मोहसिन और महमूद यों मिजाज दिखाते हैं। मैं भी इनसे मिजाज दिखाऊँगा। खेलें खिलौने और खायें मिठाइयाँ। मैं नहीं खेलता खिलौने, किसी का मिजाज क्यों सहूँ। गरीब सही, किसी से कुछ माँगने तो नहीं जाता। आखिर अब्बाजान कभी-न-कभी आयेंगे ही। अम्मा भी आयेंगी ही। फिर इन लोगों से पूछूँगा कितने खिलौने लोगे। एक-एक को टोकरियों खिलौने दूँ और दिखा दूँ कि दोस्तों के साथ इस तरह सलूक किया जाता है। यह नहीं कि एक पैसे की रेवड़ियाँ लीं तो चिढ़ा-चिढ़ाकर खाने लगे। सब-के-सब खूब हँसेंगे कि हामिद ने चिमटा लिया है। हँसें। मेरी बला से। उसने दूकानदार से पूछा—यह चिमटा कितने का है?

दूकानदार ने उसकी ओर देखा और कोई आदमी साथ न देखकर कहा—वह तुम्हारे काम का नहीं है जी।

'बिकाऊ है कि नहीं?'

'बिकाऊ क्यों नहीं है और यहाँ क्यों लाद लाये हैं?'

'तो बताते क्यों नहीं, कै पैसे का है?'

'छै पैसे लगेंगे।'

हामिद का दिल बैठ गया है।

'ठीक-ठीक बताओ?'

'ठीक-ठीक पाँच पैसे लगेंगे, लेना हो लो, नहीं चलते बनो।'

हामिद ने कलेजा मजबूत करके कहा—तीन पैसे लोगे?

यह कहता हुआ वह आगे बढ़ गया कि घुड़कियाँ न सुने।

लेकिन दूकानदार ने घुड़कियाँ नहीं दीं। बुलाकर चिमटा दे दिया। हामिद ने उसे इस तरह कन्धे पर रखा, मानो बन्दूक है और शान से अकड़ता हुआ

संगियों के पास आया । जरा सुनें, सब-के-सब क्या-क्या आलोचनाएँ करते हैं ।

मोहसिन ने हँसकर कहा—यह चिमटा क्यों लाया पगले ! इसे क्या करेगा ?

हामिद ने चिमटे को जमीन पर पटककर कहा – जरा अपना भिश्ती जमीन पर गिरा दो । सारी पसलियाँ चूर-चूर हो जायँ बचा की ।

महमूद बोला—तो यह चिमटा कोई खिलौना है ?

हामिद—खिलौना क्यों नहीं । अभी कन्धे पर रखा, बन्दूक हो गई । हाथ में ले लिया, फकीरों का चिमटा हो गया । चाहूँ तो इससे मजीरे का काम ले सकता हूँ । एक चिमटा जमा दूँ तो तुम लोगों के सारे खिलौनों की जान निकल जाय । तुम्हारे खिलौने कितना ही जोर लगावें, मेरे चिमटे का बाल भी बाँका नहीं कर सकते । मेरा बहादुर शेर है – चिमटा ।

सम्मी ने खँजरी ली थी । प्रभावित होकर बोला –मेरी खँजरी से बदलोगे ? दो आने की है ।

हामिद ने खँजरी की ओर उपेक्षा से देखा – मेरा चिमटा चाहे तो तुम्हारी खँजरी का पेट फाड़ डाले । बस एक चमड़े की झिल्ली लगा दी, ढब-ढब बोलने लगी । जरा-सा पानी लग जाय तो खतम हो जाय । मेरा बहादुर चिमटा आग में, पानी में, आँधी में, तूफान में, बराबर डटा खड़ा रहेगा ।

चिमटे ने सभी को मोहित कर लिया; लेकिन अब पैसे किसके पास धरे हैं । फिर मेले से दूर निकल आये हैं, नौ कब के बज गये, धूप तेज हो रही है । घर पहुँचने की जल्दी हो रही है । बाप से जिद भी करें, तो चिमटा नहीं मिल सकता । हामिद है बड़ा चालाक । इसीलिए बदमाश ने अपने पैसे बचा रखे थे ।

अब बालकों के दो दल हो गये हैं । मोहसिन, महमूद, सम्मी और नूरे एक तरफ हैं, हामिद अकेला दूसरी तरफ । शास्त्रार्थ हो रहा है । सम्मी तो विधर्मी हो गया । दूसरे पक्ष से जा मिला; लेकिन मोहसिन, महमूद और नूरे भी, हामिद से एक-एक, दो-दो साल बड़े होने पर भी हामिद के आघातों से अतंकित हो उठे हैं । उसके पास न्याय का बल है और नीति की शक्ति । एक ओर मिट्टी है, दूसरी ओर लोहा, जो इस वक्त अपने को फौलाद कह रहा है । वह अजेय है, घातक है । अगर कोई शेर आ जाय, तो मियाँ भिश्ती के छक्के छूट जायँ, मियाँ सिपाही मिट्टी की बन्दूक छोड़कर भागें, वकील साहब की नानी मर जाय, चुगे में मुँह छिपाकर जमीन पर लेट जायँ । मगर यह चिमटा, यह बहादुर, यह

रुस्तमे-हिन्द लपककर शेर की गरदन पर सवार हो जायगा और उसकी आँखें निकाल लेगा।

मोहसिन ने एड़ी-चोटी का जोर लगाकर कहा—अच्छा, पानी तो नहीं भर सकता।

हामिद ने चिमटे को सीधा खड़ा करके कहा—भिश्ती को एक डाँट बतायेगा, तो दौड़ा हुआ पानी लाकर उसके द्वार पर छिड़कने लगेगा।

मोहसिन परास्त हो गया; पर महमूद ने कुमक पहुँचाई—अगर बचा पकड़ जायँ तो अदालत में बँधे-बँधे फिरेंगे। तब तो वकील साहब ही के पैरों पड़ेंगे।

हामिद—इस प्रबल तर्क का जवाब न दे सका। उसने पूछा—हमें पकड़ने कौन आयगा?

नूरे ने अकड़कर कहा—यह सिपाही बन्दूकवाला।

हामिद ने मुँह चिढ़ाकर कहा—यह बेचारे हम बहादुर रुस्तमे-हिन्द को पकड़ेंगे! अच्छा लाओ अभी जरा कुश्ती हो जाय। इसकी सूरत देखकर दूर से भागेंगे। पकड़ेंगे क्या बेचारे!

मोहसिन को एक नई चोट सूझ गई—तुम्हारे चिमटे का मुँह रोज आग में जलेगा।

उसने समझा था कि हामिद लाजवाब हो जायगा; लेकिन यह बात नहीं हुई। हामिद ने तुरन्त जवाब दिया—आग में बहादुर ही कूदते हैं जनाब, तुम्हारे यह वकील, सिपाही और भिश्ती लेडियों की तरह घर में घुस जायँगे। आग में कूदना वह काम है, जो यह रुस्तमे-हिन्द ही कर सकता है।

महमूद ने एक जोर लगाया - वकील साहब कुरसी-मेज पर बैठेंगे, तुम्हारा चिमटा तो बावर्चीखाने में जमीन पर पड़ा रहेगा।

इस तर्क ने सम्मी और नूरे को भी सजीव कर दिया। कितने ठिकाने की बात कही है पट्ठे ने। चिमटा बावर्चीखाने में पड़े रहने के सिवा और क्या कर सकता है।

हामिद को कोई फड़कता हुआ जवाब न सूझा तो उसने धाँधली शुरू की—मेरा चिमटा बावर्चीखाने में नहीं रहेगा। वकील साहब कुरसी पर बैठेंगे, तो जाकर उन्हें जमीन पर पटक देगा और उनका कानून उनके पेट में डाल देगा।

बात कुछ बनी नहीं। खासी गाली-गलौज थी; लेकिन कानून को पेट में डालनेवाली बात छा गई। ऐसी छा गई कि तीनों सूरमा मुँह ताकते रह गये,

मानो कोई धेलचा कंकौआ किसी गण्डेवाले कंकौए को काट गया हो। कानून मुँह से बाहर निकलनेवाली चीज है। उसको पेट के अन्दर डाल दिया जावे, बेतुकी-सी बात होने पर भी कुछ नयापन रखती है। हामिद ने मैदान मार लिया। उसका चिमटा रुस्तमे-हिन्द है। अब इसमें मोहसिन, महमूद, नूरे, सम्मी किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती।

विजेता को हारनेवालों से जो सत्कार मिलना स्वाभाविक है, वह हामिद को भी मिला। औरों ने तीन-तीन, चार-चार आने पैसे खर्च किये; पर कोई काम की चीज न ले सके। हामिद ने तीन पैसे में रंग जमा लिया। सच ही तो है, खिलौनों का क्या भरोसा? टूट-फूट जायँगे। हामिद का चिमटा तो बना रहेगा बरसों!

सन्धि की शर्तें तय होने लगीं। मोहसिन ने कहा—जरा अपना चिमटा दो, हम भी देखें। तुम हमारा भिश्ती लेकर देखो।

महमूद और नूरे ने भी अपने-अपने खिलौने पेश किये।

हामिद को इन शर्तों को मानने में कोई आपत्ति न थी। चिमटा बारी-बारी से सबके हाथ में गया। और उनके खिलौने बार-बारी से हामिद के हाथ में आये। कितने खूबसूरत खिलौने हैं।

हामिद ने हारनेवालों के आँसू पोंछे—मैं तुम्हें चिढ़ा रहा था, सच। यह लोहे का चिमटा भला इन खिलौनों की क्या बराबरी करेगा; मालूम होता है, अब बोले, अब बोले।

लेकिन मोहसिन की पार्टी को इस दिलासे से सन्तोष नहीं होता। चिमटे का सिक्का खूब बैठ गया है। चिपका हुआ टिकट अब पानी से नहीं छूट रहा है।

मोहसिन—लेकिन इन खिलौने के लिए कोई हमें दुआ तो न देगा।

महमूद—दुआ को लिए फिरते हो। उलटे मार न पड़े। अम्माँ जरूर कहेंगी कि मेले में यही मिट्टी के खिलौने तुम्हें मिले?

हामिद को स्वीकार करना पड़ा कि खिलौनों को देखकर किसी की माँ इतनी खुश न होंगी, जितनी दादी चिमटे को देखकर होंगी। तीन पैसों ही में तो उसे सब कुछ करना था, और उन पैसों के इस उपयोग पर पछतावे की बिलकुल जरूरत न थी। फिर अब तो चिमटा रुस्तमें-हिन्द है और सभी खिलौनों का बादशाह।

रास्ते में महमूद को भूख लगी। उसके बाप ने केले खाने को दिये। महमूद

ने केवल हामिद को साझी बनाया। उसके अन्य मित्र मुँह ताकते रह गये। यह उस चिमटे का प्रसाद था।

(३)

ग्यारह बजे सारे गाँव में हलचल मच गई मेलेवाले आ गये। मोहसिन की छोटी बहन ने दौड़कर भिश्ती उसके हाथ से छीन लिया और मारे खुशी के जो उछली, तो मियाँ भिश्ती नीचे आ रहे और सुरलोक सिधारे। इस पर भाई-बहन में मारपीट हुई। दोनों खूब रोये। उनकी अम्माँ यह शोर सुनकर बिगड़ीं और दोनों को ऊपर से दो-दो चाँटे और लगाये।

मियाँ नूरे के वकील का अन्त उनकी प्रतिष्ठानुकूल इससे ज्यादा गौरवमय हुआ। वकील जमीन पर या ताक पर तो नहीं बैठ सकता। उसकी मर्यादा का विचार तो करना ही होगा। दीवार में दो खूँटियाँ गाड़ी गईं. उन पर लकड़ी का एक पटरा रखा गया। पटरे पर कागज का कालीन बिछाया गया। वकील साहब राजा भोज की भाँति इस सिंहासन पर विराजे। नूरे ने उन्हें पंखा झलना शुरू किया। अदालतों में खस की टट्टियाँ और बिजली के पंखे रहते हैं। क्या यहाँ मामूली पंखा भी न हो! कानून की गर्मी दिमाग पर चढ़ जायगी कि नहीं। बाँस का पंखा आया और नूरे हवा करने लगे। मालूम नहीं पंखे की हवा से, या पंखे की चोट से, वकील साहब स्वर्ग-लोक से मर्त्य-लोक में आ रहे और उनका माटी का चोला माटी में मिल गया! फिर बड़े जोर-शोर से मातम हुआ और वकील साहब की अस्थि घूर पर डाल दी गई।

अब रहा महमूद का सिपाही। उसे चटपट गाँव का पहरा देने का चार्ज मिल गया; लेकिन पुलिस का सिपाही कोई साधारण व्यक्ति तो नहीं, जो अपने पैरों चले। वह पालकी पर चलेगा। एक टोकरी आई, उसमें कुछ लाल रंग के फटे-पुराने चिथड़े बिछाये गये, जिसमें सिपाही साहब आराम से लेटें। महमूद ने यह टोकरी उठाई और अपने द्वार का चक्कर लगाने लगे। उसके दोनों छोटे भाई सिपाही की तरफ से 'छोने वाले, जागते लहो!' पुकारते चलते हैं। मगर रात तो अँधेरी होनी ही चाहिये। महमूद को ठोकर लग जाती है। टोकरी उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ती है और मियाँ सिपाही अपनी बन्दूक लिये जमीन पर आ जाते हैं और उनकी एक टाँग में विकार आ जाता है। महमूद को आज ज्ञात हुआ कि वह अच्छा डॉक्टर है। उसको ऐसा मरहम मिल गया है, जिससे वह टूटी टाँग को आनन-फानन जोड़ सकता है। केवल गूलर का दूध चाहिये।

गूलर का दूध आता है। टाँग जोड़ दी जाती है; लेकिन सिपाही को ज्यों ही खड़ा किया जाता है, टाँग जवाब दे देती है। शल्य-क्रिया असफल हुई, तब उसकी दूसरी टाँग भी तोड़ दी जाती है। अब-कम-से कम एक जगह आराम से बैठ तो सकता है! एक टाँग से तो न चल सकता था, न बैठ सकता था। अब वह सिपाही संन्यासी हो गया है। अपनी जगह पर बैठा-बैठा पहरा देता है। कभी-कभी देवता भी बन जाता है। उसके सिर का झालरदार साफा खुरच दिया गया है। अब उसका जितना रूपान्तर चाहो कर सकते हो। कभी-कभी तो उससे बाट का काम भी लिया जाता है।

अब मियाँ हामिद का हाल सुनिये। अमीना उसकी आवाज सुनते ही दौड़ी और उसे गोद में उठाकर प्यार करने लगी। सहसा उसके हाथ में चिमटा देखकर वह चौंकी!

'यह चिमटा कहाँ था?'

'मैंने मोल लिया है।'

'कै पैसे में?'

'तीन पैसे दिये।'

अमीना ने छाती पीट ली, यह कैसा बे-समझ लड़का है कि दोपहर हुआ, कुछ खाया न पिया। लाया क्या यह चिमटा! सारे मेले में तुझे और कोई चीज न मिली, जो यह लोहे का चिमटा उठा लाया?

हामिद ने अपराधी भाव से कहा—तुम्हारी उँगलियाँ तवे से जल जाती थीं; इसलिए मैंने इसे ले लिया।

बुढ़िया का क्रोध तुरन्त स्नेह में बदल गया और स्नेह भी वह नहीं जो प्रगल्भ होता है और अपनी सारी कसक शब्दों में बिखेर देता है। यह मूक स्नेह था, खूब ठोस, रस और स्वाद से भरा हुआ। बच्चे में कितना त्याग और कितना सद्भाव और कितना विवेक है। दूसरों को खिलौने लेते और मिठाइयाँ खाते देखकर इसका मन कितना ललचाया होगा। इतना जब्त इसे हुआ कैसे? वहाँ भी इसे अपनी बुढ़िया दादी की याद बनी रही। अमीना का मन गद्गद् हो गया।

और अब एक बड़ी विचित्र बात हुई। हामिद के इस चिमटे से भी विचित्र। बच्चा हामिद ने बूढ़े हामिद का पार्ट खेला था। बुढ़िया अमीना बालिका अमीना बन गई। वह रोने लगी। दामन फैलाकर हामिद को दुआएँ देती जाती थी और आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें गिराती जाती थी। हामिद इसका रहस्य क्या समझता!

———

एथेंस का सत्यार्थी

['सुदर्शन']

यह उस बीते हुए युग की कहानी है, जब यूनान ऐश्वर्य और सभ्यता के शिखर पर था और संसार की सर्वोत्तम संतान यूनान में उत्पन्न होती थी। रात का समय था, काव्य और कला की कभी न भूलनेवाली प्राचीन नगरी एथेन्स पर अन्धकार छाया हुआ था। चारों तरफ सन्नाटा था, चारों तरफ निस्तब्धता थी—सब बाजार खाली थे, सब गलियाँ निर्जन थीं और यह सुन्दर और आबाद नगरी रात के अँधेरे में दूर से इस तरह दिखाई देती थी, जैसे किसी जंगल में धुंधली-सी अपूर्ण छाया का पड़ाव पड़ा हो।

पूरी नगरी पूरा विश्राम कर रही थी। उसके विद्वान् और विलासी बेटे अपनी-अपनी शय्या पर बे-सुध पड़े थे। रंग-शालाएँ खाली हो चुकी थीं, विलास भवनों के दीपक बुझा दिये गये थे और द्वारपालों की आँखों की पलकें नींद के लगातार आक्रमणों के सामने झुकी जाती थीं; परन्तु एक नवयुवक की आँखें नींद की शान्ति और शान्ति की नींद दोनों से वंचित थीं।

यह देवकुलीश एक विद्यार्थी था, जिसकी आत्मा सत्य-दर्शन की प्यासी थी। वह एक बहुत बड़े धनवान् का बेटा था, उसकी सम्पत्ति उसके लिए हर तरह का विलास खरीद सकती थी, वह अत्यन्त मनोहर था, यूनान-माता की सबसे सुन्दर बेटियाँ उसके प्रेम में पागल हो रही थीं। वह बहुत उच्च कोटि का तत्त्व-वेत्ता था। उसकी साधारण युक्तियाँ भी विद्यालय के अध्यापकों की पहुँच से बाहर थीं; परन्तु उसे इस पर भी शान्ति न थी। वह सत्यार्थी था। वह सत्य की खोज में अपने आप को मिटा देने पर तुला हुआ था। वह इस रास्ते में अपना सर्वस्व निछावर कर देने को तैयार था। मर्त्य-लोक की नाशवान् खुशियाँ उसके लिए अर्थ-हीन वस्तुएँ थीं। यौवन और सौन्दर्य की सजीव मूर्तियाँ में उसके लिए कोई

आकर्षण न था। वह चाहता था, किसी तरह सत्य को एक वार उसके वास्तविक रूप में देख ले। वह सत्य को वेपरदा, नंगा देखना चाहता था। ऐसा नहीं जैसा वह दिखाई देता है, बल्कि ऐसा जैसा वह वास्तव में है। वह अपनी इस मनोरथ-सिद्धि के लिए सब कुछ करने को तैयार था।

देवकुलीश रात-दिन पढ़ता था।

पढ़ता था और सोचता था। सोचता था और पढ़ता था; मगर उसके स्वाध्याय, चिन्तन और मनन से उसके प्यासे हृदय की प्यास मिटती न थी, बढ़ती जाती थी। सत्य का रोगी चिकित्सा से और ज्यादा बीमार होता जाता था।

(२)

विद्यालय के आँगन में विशाल एक ऊँचा चबूतरा था, जिस पर पता नहीं कब से मिनरवा, ज्ञान और विवेक की देवी, संगमरमर के वस्त्र पहने खड़ी थी। देवकुलीश पत्थर की इस मूर्ति के बरफ-समान पैरों के निकट आकर घण्टों बैठा रहता और संसार के रहस्य पर चिन्तन किया करता था। यहाँ तक कि उसके मित्रों और सहपाठियों ने समझ लिया कि इसके मस्तिष्क में विकार उत्पन्न हो गया है। वे उसकी इस शोचनीय (?) दशा को देखते थे और कुढ़ते थे।

उस रात भी देवकुलीश देवी के पैरों के निकट बैठा था और रो रहा था—कृपा कर! ऐ विद्या और विज्ञान की सबसे बड़ी देवी, कृपा कर! मेरे मन की अभिलाषा पूरी कर। मैं कई वर्षों से तेरी पूजा कर रहा हूँ। मैं कई रातें तेरे पैरों को अपने आँसुओं से धोने में गुजार दी हैं। मैंने कई दिन केवल तेरे ध्यान में बिता दिये हैं। मेरी प्रार्थना के शब्द सुन और उन्हें स्वीकार कर!

देवकुलीश यह कहकर खड़ा हो गया और देवी के तेज-पूर्ण मुँह की तरफ देखने लगा; मगर वह उसी तरह चुपचाप थी।

इतने में चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ। उसके सुवर्ण और सुशीतल प्रकाश में देवी की मूर्ति और भी मनोहर दिखाई देने लगी।

अब देवकुलीश फिर मूर्ति के चरणों में बैठा था और फिर उसी तरह बालकों के सदृश रो-रोकर प्रार्थना कर रहा था, मानो वह संगमरमर की मूर्ति न थी, इस दुनिया की जीती-जागती स्त्री थी, जो सुनती भी है, जवाब भी देती है। बुद्धिमान् देवकुलीश ने पागलपन के आवेश में कहा—आज की रात फैसले की रात है। ऐ ज्ञान और विवेक की रानी! तूने मेरे दिल में जिज्ञासा की आग

सुलगाई है, तू ही उसे सत्य के शीतल जल से शान्त कर सकती है। सत्य कहाँ है? अजर, अमर, अटल सत्य। वह सत्य जिस पर बुद्धिमान् लोग शास्त्रार्थ करते हैं, जिसका पण्डित चिन्तन करते हैं, जिसे लोग एकान्त में तलाश करते हैं, मन्दिरों में ढूंढ़ते हैं, जिसके लिए दूर-दूर भटकते हैं। मैं वह उच्चकोटि का सत्य देखने का अभिलाषी हूँ। नहीं तो मैं चाँद की उज्ज्वल चाँदनी के सामने तेरे पैरों की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, कि अपने निरर्थक जीवन को यहीं, इसी जगह समाप्त कर दूंगा। मुझे सत्य-हीन जीवन की कोई आवश्यकता नहीं।

यह कहकर देवकुलीश ने अपनी चादर के अन्दर से एक कटार निकाली और आत्महत्या करने को तैयार हो गया।

एकाएक सफ़ेद पत्थर की मूर्ति सजीव हो गई। उसने देवकुलीश के हाथ से कटार छीन ली, उसे आँगन के एक अँधेरे कोने में फेंक दिया और कहा—देवकुलीश!

देवकुशील काँपता हुआ खड़ा हो गया और आशा, आनन्द और सन्देह की दृष्टि से देवी की ओर देखने लगा। क्या यह सच है?

हाँ, यह सत्य था; देवी के होंठ सचमुच हिल रहे थे—देवकुलीश! देवकुलीश!—देवकुलीश देवी का एक-एक शब्द पूरे ध्यान से सुन रहा था।

'देवकुलीश! मौत का मार्ग अँधेरा है। तू मेरा पुजारी, मेरी आँखों के सामने इस मार्ग पर नहीं जा सकता। मेरे लिए असह्य है कि मेरे सामने कोई आत्म-हत्या कर जाय। बोल, क्या माँगता है? मैं तेरी हरएक मनोकामना पूरी करने को तैयार हूँ।'

देवकुलीश का दिल सफलता के आनन्द से धड़क रहा था। उसके मुँह से शब्द न निकलते थे। वह देवी के पैरों के निकट बैठ गया, और श्रद्धाभाव से बोला—पवित्र देवी! मैं सत्य को उसके अपने असली स्वरूप में देखना चाहता हूँ। नंगा, वेपरदा, खुला सत्य। और कुछ नहीं, बस सत्य!

'तू सत्य को जानना चाहता है?' देवी के होंठों से आवाज आई—'तू आप सत्य है। यह आँगन भी सत्य है। मैं भी सत्य हूँ। आँखें खोल, सत्य दुनिया के चप्पे-चप्पे में मौजूद है।'

देवकुलीश—मगर उस पर परदे पड़े हुए हैं।

देवी—विवेक की आँख उन परदों के अन्दर का दृश्य भी देख सकती है।

देवकुलीश—पवित्र माता ! मैं सत्य को विवेक से नहीं, आँखों से देखना चाहता हूँ। मैं सोचकर नहीं देखना चाहता, देखकर सोचना चाहता हूँ।

देवी ने अपना पत्थर का सफेद ठंडा, भारी हाथ देवकुलीश के कंधे पर रख दिया और मीठे स्वर में बोली—बेपरदा, नंगा सत्य आज तक दुनिया के किसी बेटे ने नहीं देखा, न देवताओं ने किसी मनुष्य को यह वरदान दिया है। तू अन्न का कीड़ा है, तेरी आँखों में यह दृश्य देखने की शक्ति कहाँ ? मेरा परामर्श है, यह ख्याल छोड़ दे और अपने लिए कोई और वस्तु माँग, मैं अभी, इसी जगह दूँगी।

देवकुलीश - यूनान की सबसे बड़ी देवी मैं केवल नंगा सत्य देखना चाहता हूँ और कुछ नहीं चाहता।

देवी—मगर इसका मूल्य···

देवकुलीश—जो कुछ तू माँगे।

देवी—धन, दौलत, सौंदर्य, यश सब तुझसे छूट जायँगे। तुझे अपनी दुनिया को चाँद और सूरज के प्रकाश से भी वंचित करना होगा—शायद इस यज्ञ में तुझे अपने जीवन की भी आहुति देनी पड़े। बोल ! क्या अब भी तू सत्य का नंगा रूप देखना चाहता है ?

देवकुलीश—मुझे सब कुछ स्वीकार है।

देवी ने सिर झुका लिया।

देवकुलीश - परमेश्वर की सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मैं इसके लिए न त्याग सकूँ।

देवी ने फिर सिर उठाया और मुस्कराकर कहा—बहुत अच्छा ! तू सत्य को देख लेगा, तुझे सत्य दिखा दिया जायगा, सत्य का वास्तविक, नंगा रूप तेरे सामने होगा; परन्तु एक बार नहीं, धीरे-धीरे चल ! आज सत्य का एक परदा उठा, बाकी एक वर्ष के बाद !

(३)

यह कहते-कहते देवी ने अपनी सफेद पत्थर की चादर उतार कर चबूतरे पर रख दी और देवकुलीश को गोद में उठा लिया। देखते-देखते देवी के दोनों कंधों पर परियों के-से दो पर निकल आये। देवी ने पर खोले, और हवा में उड़ने लगी। पहले शहर, मन्दिरों के कलश, पर्वत; फिर चाँद, तारे, बादल सब नीचे रह गये। देवी देवकुलीश को लिये आकाश में उड़ी जा रही थी। थोड़ी

देर बाद उसने देवकुलीश को बादलों के एक पहाड़ पर खड़ा कर दिया। देवकुलीश ने देखा, पृथ्वी उसके पाँव तले बहुत दूर, बहुत नीचे एक छोटे से तारे के समान टिमटिमा रही है, और थी वह यह दुनिया, जिसको वह इतना बड़ा समझ रहा था, मगर देवकुलीश का ध्यान इस ओर न था। उसने अपने पास छाया में छिपी हुई एक धुँधली-सी चीज देखी, और देवी से पूछा—यह क्या है ?

देवी—यही सत्य है। यह छिप कर यहाँ रहता है, यहीं से तेरी और अनगिनत दूसरी दुनियाओं को अपनी दिव्य-ज्योति भेजता है। इसी के धुँधले प्रकाश में बैठकर सयाने लोग दुनिया की पहेलियाँ हल करते हैं, और गुरु अपने शिष्यों को जीवन की शिक्षा देते हैं। यही प्रकाश सृष्टि का सूरज है, यही ज्योति मानव चरित्र का आदर्श है। तू कहेगा, यह तो कुछ ज्यादा प्रकाशमान् नहीं; परन्तु देवकुलीश ! तेरे शहर के निकट जो नदी बहती है, यदि उसकी सारी रेत का एक-एक कण एक-एक सूरज बन जाय, तब भी उसमें इतना प्रकाश न होगा, जितना इस पहाड़ की छाया में है; मगर वह परदों में छिपा हुआ है। चल, आगे बढ़ और इसका एक परदा फाड़ दे।

देवकुलीश ने एक परदा फाड़ दिया। इसके साथ ही उसे ऐसा मालूम हुआ, जैसे संसार में एक नवीन प्रकार का प्रकाश फैल गया है। सच की छाया अब पहले से ज्यादा साफ और चमकदार थी। देवी देवकुलीश को फिर एथेंस में उड़ा लाई और अपनी सङ्गमरमर की चादर ओढ़कर फिर चबूतरे पर उसी तरह चुपचाप खड़ी हो गई।

अब देवकुलीश की दृष्टि में चाँदी और सोने का कोई मूल्य न था। वह लोगों को दौलत के पीछे भागते देखता; तो उसे आश्चर्य होता था। वह चाँदी को सफेद लोहा, और सोने को पीला लोहा कहता था, और इनकी प्राप्ति के लिए अपना परिश्रम नष्ट न करता था। उसे पढ़ने की धुन थी, दिन रात पढ़ता रहता था। उसके बाप ने उसका साधु-स्वभाव देख कह दिया, कि इसे मेरी जायदाद में से कुछ न मिलेगा; परन्तु देवकुलीश को इसकी जरा चिन्ता न थी। उसके मित्र-सम्बन्धी कहते—देवकुलीश ! यह आयु जवानी और गर्म खून की है। सफेद बालों और झुकी हुई कमर का जमाना शुरू होने से पहले पहल कुछ जमा कर ले। नहीं फिर बाद में पछतायेगा।

देवकुलीश उनकी तरफ अद्भुत दृष्टि से देखता और कहता—तुम क्या कह रहे हो, मैं कुछ नहीं समझता।

एथेंस के एक बहुत अमीर की कुँआरी बेटी अब भी देवकुलीश की मोटी-मोटी काली आँखों की दीवानी थी। वह देवकुलीश की इस दीन दशा को देखती और कुढ़ती थी। देवकुलीश के खाने-पीने का प्रबन्ध भी वही करती थी, वर्ना वह भूखा-प्यासा मर जाता।

इसी तरह एक साल के तीन सौ पैंसठ दिन पूरे हो गये। रात का समय था, एथेंस पर फिर अन्धकारपूर्ण सन्नाटा छाया हुआ था। देवकुलीश ने फिर देवी के पैरों पर सिर झुकाया। देवी उसे फिर बादलों के पहाड़ पर ले गई और देवकुलीश ने सत्य का दूसरा परदा फाड़ दिया। इस बार सत्य का प्रकाश और भी साफ हो गया। देवकुलीश ने उसे देखा और उसकी आँखों को वह ज्ञान-चक्षु मिल गये, जो यौवन और सुकुमारता के लाल लहू के पीछे छिपे हुए बुढ़ापे की एक-एक झुर्री को देख सकते हैं। फिर वह अपनी बनावट और अविद्या की दुनिया को वापस चला आया। देवी फिर संगमरमर का बुत बनकर अपनी जगह पर खड़ी हो गई।

(४)

एक दिन उसके एक मित्र ने कहा—देवकुलीश ! आज यूनान के सब कुँआरी लड़कियाँ एथेंस में जमा हैं और आज यूनान की सबसे सुन्दरी युवती को सौन्दर्य का पहला इनाम दिया जायगा। क्या तू भी चलेगा ?

देवकुलीश ने उसकी ओर मुस्कराकर देखा और कहा—सत्य वहाँ नहीं है।

दूसरे दिन एक अध्यापक ने कहा—आज यूनान के सारे समझदार लोग विद्यालय में जमा हैं। क्या तुम उनसे मिलोगे ?

देवकुलीश ने ठण्डी आह भर कर जवाब दिया—सत्य वहाँ भी नहीं है।

तीसरे दिन एक महन्त ने कहा—आज चाँद देवी के बड़े मन्दिर में देवताओं की पूजा होगी। क्या तुम भी आओगे ?

देवकुलीश ने लम्बी आह खींची और कहा—सत्य वहाँ भी नहीं है !

और इस तरह इस सत्यार्थी ने जवानी ही में जवानी के सारे प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली। अब वह पूरा महन्त था; मगर वह एथेंस के किसी मेले में नजर न आता था, उसकी आवाज किसी सभा में न सुनाई देती थी।

सत्यार्थी साल-भर एकान्त में पढ़ता रहता और इसके बाद बादलों के पहाड़

पर जाकर सत्य का एक परदा फ़ाड़ आता था। इसी तरह कई वर्ष बीत गये। उसका ज्ञान दिन-पर-दिन बढ़ता गया; मगर उसकी आँखें अन्दर धँस गई थीं, कमर झुक चुकी थी, सिर के सारे बाल सफेद हो गये थे। उसने सत्य की खोज में अपनी जवानी बुढ़ापे की भेंट कर दी थी; मगर उसे इसका दुःख न था, क्योंकि वह जवानी और बुढ़ापे दोनों की सत्ता से परिचित हो चुका था।

और लोग यह समझते थे देवकुलीश ने अपने लिए अपनी कोठरी को समाधि बना लिया है।

(५)

आखिर वह प्यारी रात आ गई, जिसकी प्रतीक्षा में देवकुलीश को अपने जीवन का एक-एक क्षण, एक-एक वर्ष, एक-एक शताब्दी से भी लम्बा मालूम होता था।

आज सत्य के मुँह से अन्तिम परदा उठेगा। आज वह सत्य को नंगा, बेपरदा देखेगा, जिसे संसार के किसी नश्वर बेटे ने आज तक नहीं देखा। आज उसके जीवन की सबसे बड़ी साध पूरी हो जायगी।

आधी रात को उसे विवेक और विज्ञान की देवी ने अन्तिम बार गोद में उठाया, और बादलों के पहाड़ पर ले जाकर खड़ा कर दिया।

देवकुलीश ने सत्य की ओर अधीर होकर देखा।

देवी ने कहा—देवकुलीश ! देख, इसका प्रकाश कैसा साफ, कैसा तेज है। आज तक तूने इसके जितने परदे उतारे हैं, वे इसके परदे न थे, तेरी बुद्धि के परदे थे ! सत्य का एक ही परदा है, आगे बढ़ और इसे उतार दे; परन्तु अगर तू चाहे, तो अब भी लौट चल। मैं तुझे सातों समुद्रों के मोती और दुनिया का सारा सोना देने को तैयार हूँ। तेरा गया हुआ स्वास्थ्य वापस मिल सकता है, तेरा उजड़ा हुआ जीवन लौटाया जा सकता है। मुझसे कह, तेरे सिर के सफेद बालों को छूकर फिर से काला कर दूं। देवकुलीश ! अब भी समय है, अपना संकल्प त्याग दे।

मगर बहादुर सत्यार्थी ने देवी का कहना न माना, और आगे बढ़ा। उसका कलेजा धड़क रहा था, उसके पाँव लड़खड़ा रहे थे, उसके हाथ काँप रहे थे, उस का सिर चकरा रहा था; मगर वह फिर भी आगे बढ़ा। उसने अपनी आत्मा और शरीर की सारी शक्तियाँ हाथों में जमा कीं और उन्हें फैलाकर सत्य का अन्तिम परदा फाड़ दिया।

ओ परमात्मा !

चारों ओर अन्धकार छा गया था; ऐसा भयानक अन्धकार, जैसा इससे पूर्व देवकुलीश ने कभी न देखा था। उसने चिल्लाकर कहा—देवी माता ! यह क्या हो गया ? मुझे कुछ दिखाई नहीं देता; वह जो परदे के पीछे था, कहाँ चला गया।

देवी ने मधुर स्वर से कहा—देवकुलीश ! देवकुलीश !!

देवकुलीश ने अँधेरे में टटोलते हुए कहा—देवी ! मुझे बता, वह कहाँ है ? मैं कहाँ हूँ, तू कहाँ है ?

देवी ने अपना हाथ धीरे से उसके कंधे पर रखा, और जवाब दिया—देवकुलीश ! तेरी आँखें नंगे सत्य का दृश्य देखने में असमर्थ होने के कारण फूट गईं। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो उन्हें ठीक कर सके। मैंने तुझसे कहा था, यह विचार छोड़ दे; परन्तु तूने न माना, और अब तूने देख लिया कि जब मनुष्य सत्य को नंगा देखना चाहता है, तो क्या देखता है। सत्य परदों के अंदर ही से देखा जा सकता है। जब उसका परदा उतार दिया जाता है, तो मनुष्य वह देखता है, जो कभी नहीं देख सकता।

देवकुलीश बादलों के पहाड़ पर मुँह के बल गिर पड़ा और फूट-फूटकर रोने लगा।

हजारों वर्ष बीत चुके हैं; मगर एथेंस के सत्यार्थी की खोज अभी तक जारी है। अगर कोई आदमी बादलों के पहाड़ की सुनसान घाटियों में जा सके, तो उसे देवकुलीश के रोने की आवाज अभी उसी तरह सुनाई देगी।

———

उसकी माँ.........

[श्री बेचन शर्मा 'उग्र']

दोपहर को जरा आराम करके उठा था। अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में, खड़ा-खड़ा, धीरे-धीरे सिगार पी रहा था और बड़े-बड़े आलमारों में सजे पुस्तकालय की ओर निहार रहा था। किसी महान लेखक की कोई महान् कृति उसमें से निकाल कर देखने की बात सोच रहा था। मगर, पुस्तकालय के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मुझे महान-ही-महान नजर आये। कहीं गेटे, कहीं रूसो; कहीं मेजिनी, कहीं, निटशे, कहीं शेक्सपियर, कहीं टॉल्सटॉय, कहीं ह्यूगो—मुपासाँ कहीं डिकिन्स, स्पेन्सर, मेकाले, मिल्टन, मोलियर—उफ! उफ! इधर-से-उधर तक एक-से-एक महान ही तो थे। आखिर मैं किसके साथ चन्द मिनट मन बहलाव करूँ, यह निश्चय ही न हो सका। महानों के नाम ही पढ़ते-पढ़ते परेशान-सा हो गया।

इतने में मोटर का भोंं-भोंं सुनाई पड़ा। खिड़की से झाँका तो सुर्मई रंग की कोई 'फिएट' गाड़ी दिखाई पड़ी। मैं सोचने लगा शायद कोई मित्र पधारे हैं, अच्छा ही है। महानों से जान बची।

जब नौकर ने सलाम कर आने वाले का कार्ड दिया, तब मैं कुछ घबराया। उस पर शहर के पुलिस-सुपरिन्टेण्डेण्ट का नाम छपा था। ऐसे वे-वक्त यह कैसे आये?

पुलिस-पति भीतर आये। मैंने हाथ मिलाकर एक चक्कर खाने वाली गद्दीदार कुर्सी पर उन्हें आसन दिया। वह व्यापारिक मुस्कराहट से लैस होकर बोले —"इस अचानक आगमन के लिए आप मुझे क्षमा करें।"

"आज्ञा हो।"—मैंने भी नम्रता से कहा।

उन्होंने पाकेट से डायरी निकाली, डायरी से एक तसवीर—"देखिए इसे।

जरा बताइये तो, आप पहचानते हैं इसको ?"

"हाँ' पहचानता तो हूँ।"—जरा सहमते हुए मैंने बताया।

"इसके बारे में मुझे आपसे कुछ पूछना है।"

"पूछिये।"

"इसका नाम क्या है ?"

"लाल"। मैं इसी नाम से बचपन ही से इसे पुकारता आ रहा हूँ। मगर, यह पुकारने का नाम है। एक नाम कोई और है, सो मुझे स्मरण नहीं।"

"कहाँ रहता है यह ?"—सुपरिन्टेण्डेण्ट ने पुलिस की धूर्त दृष्टि से मेरी ओर देखकर पूछा।

"मेरे बँगले के ठीक सामने, एक दो-मंजिला कच्चा-पक्का घर है। उसी में वह रहता है। वह है और उसकी बूढ़ी माँ।"

"बूढ़ी का नाम क्या है ?"

"जानकी।"

"और कोई नहीं है, क्या इसके परिवार में ? दोनों का पालन-पोषण कौन करता है ?"

"सात-आठ वर्ष हुए, लाल के पिता का देहान्त हो गया। अब उस परिवार में वह और उसकी माता ही बचे हैं। उसका पिता जब तक जीवित रहा; बराबर मेरी जमीन्दारी का मुख्य मैनेजर रहा। उसका नाम रामनाथ था। वही मेरे पास कुछ-हज़ार रुपये जमा कर गया था, जिससे अब तक उनका खरचा-वरचा चल रहा है। लड़का कालेज में पढ़ रहा है। जानकी को आशा है, वह साल-दो-साल बाद कमाने और परिवार को सँभालने लगेगा। मगर,—क्षमा कीजिए, क्या मैं यह पूछ सकता हूँ कि आप उसके बारे में क्यों इतनी पूछ-ताँछ कर रहे हैं ?"

"यह तो मैं आपको नहीं बता सकता, मगर इतना आप समझ लें, यह सरकारी काम है। इसीलिए मैंने आपको इतनी तकलीफ दी है।"

"अजी, इसमें तकलीफ की क्या बात है। हम तो सात पुश्त से सरकार के फरमाबरदार हैं। और कुछ, आज्ञा···।"

"एक बात और"—पुलिस-पति ने गम्भीरता से, धीरे से कहा—"मैं मित्रता से आपसे निवेदन करता हूँ। आप इस परिवार से जरा सावधान और दूर रहें। फिलहाल इससे अधिक मुझे कुछ कहना नहीं।"

(२)

"लाल की माँ !"—एक दिन जानकी को बुलाकर मैंने समझाया—"तुम्हारा लाल आजकल क्या पाजीपन करता है ? तुम उसे केवल प्यार ही करती हो न ? हूँ; भोगोगी।"

"क्या है बाबू ?" उसने कहा—"लाल क्या करता है ? मैं तो उसे कोई भी बुरा काम करते नहीं देखती।"

"बिना किये ही तो सरकार किसी के पीछे पड़ती नहीं। हाँ, लाल की माँ, बड़ी धर्मात्मा, विवेकी और न्यायी सरकार यह है। जरूर तुम्हारा लाल कुछ करता होगा।"

"माँ ! माँ !!" पुकारता हुआ उसकी समय, लाल भी आया। लम्बा, सुडौल, सुन्दर, तेजस्वी।

"माँ"—उसने मुझे नमस्कार कर जानकी से कहा—"तू यहाँ भाग आई है। चल तो। मेरे कई सहपाठी वहाँ खड़े हैं। उन्हें चटपट कुछ जलपान करा दे। फिर हम घूमने जायँगे।"

"अरे !" जानकी के चेहरे की झुर्रियाँ चमकने लगीं, काँपने लगीं, उसे देखकर—"तू आ गया, लाल ! चलती हूँ भैये। पर देख तो तेरे चाचा क्या शिकायत कर रहे हैं। तू क्या पाजीपना करता है, बेटा ?"

"क्या है चाचा जी ?"—उसने सविनय, सुमधुर स्वर से मुझसे पूछा—मैंने क्या अपराध किया है ?"

"मैं तुझसे नाराज हूँ लाल !"—मैंने गम्भीर स्वर में कहा।

"क्यों चाचा जी ?"

"तुम बहुत बुरा करते हो, जो सरकार के विरुद्ध षड़यन्त्र करने वाले के साथी हो। हाँ, हाँ—तुम हो। देखो लाल की माँ; इसके चेहरे का रंग उड़ गया। यह सोचकर कि यह खबर मुझे कैसे मिली !"

सचमुच एक बार उसका खिला हुआ रंग जरा मुरझा गया, मेरी बातों से। पर तुरन्त ही वह सँभला।

"आपने गलत सुना, चाचा जी। मैं किसी षड्यन्त्र में नहीं। हाँ, मेरे विचार स्वतन्त्र अवश्य हैं। मैं जरूरत-बेजरूरत जिस-तिस के आगे उबल अवश्य उठता हूँ, देश की दुरवस्था पर उबल उठता हूँ, इस पशु-हृदया परतन्त्रता पर।"

"तुम्हारी ही बात सही, तुम षड्यन्त्र में नहीं, विद्रोह में नहीं, पर यह बक-

बक क्यों ? इससे फायदा ? तुम्हारी इस बक-झक से न तो देश की दुर्दशा दूर होगी और न उसकी पराधीनता। तुम्हारा काम पढ़ना है—पढ़ो। इसके बाद कर्म करना होगा, परिवार और देश की मर्यादा बचानी होगी। तुम पहले अपने घर का उद्धार तो कर लो, तब सरकार के सुधार का विचार करना।"

उसने नम्रता से कहा—"चाचा जी, क्षमा कीजिये। इस विषय में मैं आपसे विवाद करना नहीं चाहता।"

"चाहना होगा, विवाद करना होगा। मैं केवल चाचा जी नहीं, तुम्हारा बहुत कुछ हूँ। तुम्हें देखते ही मेरी आँखों के सामने रामनाथ नाचने लगते हैं। तुम्हारी बूढ़ी माँ, घूमने लगती हैं। भला मैं तुम्हें बे-हाथ होने दे सकता हूँ! इस भरोसे न रहना।"

"इस पराधीनता के विवाद में, चाचा जी मैं और आप दो भिन्न सिरों पर हैं। आप कट्टर राजभक्त, मैं कट्टर राजविद्रोही! आप पहली बात को उचित समझते हैं कुछ कारणों से मैं दूसरी को दूसरे कारणों से। आप अपना पथ छोड़ नहीं सकते—अपनी प्यारी कल्पनाओं के लिये। मैं अपना भी नहीं छोड़ सकता।"

"तुम्हारी कल्पनाएँ क्या हैं ? सुनूँ भी जरा; मैं भी जान लूँ कि अबके लड़के कालेज की गर्दन तक पहुँचते-पहुँचते, कैसे-कैसे हवाई किले उठाने के सपने देखने लगते हैं। जरा मैं भी सुनूँ बेटा!"

"मेरी कल्पना यह है कि जो व्यक्ति, समाज या राष्ट्र किसी अन्य व्यक्ति समाज या राष्ट्र के नाश पर जीता हो—उसका सर्वनाश हो जाय।"

जानकी उठकर बाहर चली।—"अरे तू तो जमकर चाचा से जूझने लगा। वहाँ चार बच्चे बेचारे दरवाजे पर खड़े होंगे। लड़ तू, मै जाती हूँ।" उसने मुझसे कहा—"समझा दो बाबू, मैं तो आप ही कुछ नहीं समझती, फिर इसे क्या समझाऊँगी।" उसने फिर लाल की ओर देखा—"चाचा जो कहें, मान जा बेटा। यह तेरे भले ही की कहेंगे।'

वह बेचारी, कमर झुकाये उस साठ बरस की वय में भी घूंघट सँभाले, चली गई। उस दिन उसने मेरी और लाल की बातों की गम्भीरता नहीं समझी।

"मेरी कल्पना यह है···कि"—उत्तेजित स्वर से लाल ने कहा—"ऐसे दुष्ट, नाशक, व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के सर्वनाश में मेरा भी हाथ हो।"

"तुम्हारे हाथ दुर्बल हैं; उनसे, जिनसे तुम पंजा लेने जा रहे हो। चर्रर-मुर्रर हो उठेंगे। नष्ट हो जायँगे।"

"चाचा जी, नष्ट हो जाना तो यहाँ का नियम है। जो सँवारा गया है, वह बिगड़ेगा ही। हमें दुर्बलता के डर से अपना काम नहीं रोकना चाहिये। कर्म के समय हमारी भुजाएँ दुर्बल नहीं, भगवान् की सहस्र भुजाओं की सखी हैं।'

"तो, तुम क्या करना चाहते हो ?"

"जो भी मुझसे हो सकेगा, करूँगा।"

"षड़यन्त्र···?"

"जरूरत पड़ी तो जरूर···।"

"विद्रोह···?"

"हाँ, अवश्य !"

"हत्या······?"

"हाँ—हाँ—हाँ।"

"बेटा, तुम्हारा माथा, न जाने कौन किताब पढ़ते-पढ़ते, बिगड़ रहा है। "सावधान !"

(३)

मेरी धर्मपत्नी और लाल की माँ, एक दिन, बैठी हुई बातें कर रही थीं कि मैं पहुँच गया। कुछ पूछने के लिये, कई दिनों से, मैं उसकी तलाश में था।

"क्यों लाल की माँ ! लाल के साथ किसके लड़के आते हैं, तुम्हारे घर में ?"

"मैं क्या जानूँ बाबू"—उसने सरलता से कहा—'मगर वे सभी मेरे लाल ही की तरह मुझे प्यारे दिखते हैं। सब ला-पर्वाह। वे इतना हँसते, गाते और हो-हल्ला मचाते हैं कि मैं मुग्ध हो जाती हूँ।"

मैंने एक ठण्डी साँस ली—"हूँ, ठीक कहती हो वे बातें कैसी करते हैं ? कुछ समझ पाती हो ?"

"बाबू, वे लाल के बैठक में बैठते हैं। कभी-कभी जब मैं उन्हें कुछ खिलाने-पिलाने जाती हूँ, तब वे, बड़े प्रेम से, मुझे 'माँ' कहते हैं। मेरी छाती फूल उठती है—मानों वे मेरे ही बच्चे हैं।"

"हूँ···" मैंने फिर साँस ली।

"एक लड़का उनमें बहुत ही हँसोड़ है। खूब तगड़ा और बली दिखता है।

लाल कहता था, वह डण्डा लड़ने में, दौड़ने में, घूंसेबाजी में, खाने में, छेड़खानी करने और हो-हो, हा-हा कर हँसने में समूचे कालेज में फर्द है। उसी लड़के ने एक दिन, जब मैं उन्हें हलवा परस रही थी मेरे मुँह की ओर देखकर कहा— माँ तू तो ठीक भारत-माता-सी लगती है। तू बूढ़ी, वह बूढ़ी। उसका हिमालय उजला है, तेरे केश। हाँ, मैं नक्शे से साबित करता हूँ—तू भारत-माता है। सर तेरा हिमालय, माथे की दोनों गहरी, बड़ी, रेखाएँ गंगा और यमुना। यह नाक विन्ध्याचल, दाढ़ी कन्या-कुमारी तथा छोटी-बड़ी झुर्रियाँ-रेखाएँ भिन्न-भिन्न पहाड़ और नदियाँ हैं। जरा पास आ मेरे। तेरे केशों को पीछे से आगे—बायें कन्धे पर लहरा दूँ। वह बर्मा बन जायगा। बिना उसके भारत-माता का श्रृंगार शुद्ध न होगा।"

जानकी उस लड़के की बातें सोच गद्‌गद हो उठी "बाबू ऐसा ढीठ लड़का। सारे बच्चे हँसते रहे और मुझे पकड़, मेरे बालों को बाहर कर अपना ब्रह्मा तैयार कर लिया। कहने लगा—देख, तेरा यह दाहिना कान 'कच्छ' की खाड़ी है—बम्बई के आगेवाली; और यह बायाँ— बंगाल की खाड़ी। माँ! तू सीधा मुंह करके जरा खड़ी हो। मैं तेरी ठुड्ढी के नीचे, उससे दो अंगुल के फासले पर, हाथ जोड़कर घुटने पर, बैठता हूँ। दाढ़ी तेरी कन्याकुमारी!—हा हा हा हा!—और मेरे जुड़े, जरा तिरछे, हाथ सिलोन—लंका!—हा हा हा हा!!— बोल, भारत माता की जय।"

"सब लड़के ठहाका लगाकर हँसने लगे। वह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, मेरे पावों के पास बैठ गया। मैं हक्की-बक्की-सी हँसने वालों का मुँह निहारने लगी। बाबू, वे सभी बच्चे मेरे 'लाल' हैं, सभी मुझे 'माँ'—गाकर—कहते हैं।"

उसकी सरलता मेरी आँखों में आँसू बनकर छा गई। मैंने पूछा—"लाल की माँ! और भी वे कुछ बातें करते हैं? लड़ने की, झगड़ने की, गोली या बन्दूक की?"

"अरे बाबू"—उसने मुस्करा कर कहा—"वे सभी बातें करते हैं। उनकी बातों का कोई मतलब थोड़े ही होता है। सब जवान हैं, ला-पर्वाह हैं, जो मुँह में आता है, बकते हैं। कभी-कभी तो पागलों-सी बातें करते हैं। महीना-भर पहले एक दिन लड़के बहुत उत्तेजित थे। वे जब बैठक में बैठकर गलचौर करने लगते हैं, तब कभी-कभी उनकी पागलपन सुनने के लोभ से, मैं दरवाजे से सट और छिपकर खड़ी हो जाती हूँ।"

"न जाने कहाँ, लड़कों की सरकार पकड़ रही है। मालूम नहीं, पकड़ती भी है या वे यों ही गप हाँकते थे। मगर उस दिन वे यही बक रहे थे। कहते थे—पुलिसवाले केवल सन्देह पर भले आदमियों के बच्चों को त्रास देते हैं, मारते हैं, सताते हैं। यह अत्याचारी पुलिस की नीचता है। ऐसी नीच शासन-प्रणाली को स्वीकार करना, अपने धर्म को, कर्म को, आत्मा को, परमात्मा को भुलाना है—धीरे-धीरे घुलाना, मिटाना है।"

एक ने, उत्तेजित भाव से, कहा—"अजी, ये परदेशी कौन लगते हैं हमारे; जो हमें बरबस राजभक्त बनाये रखने के लिए, हमारी छाती पर तोप का मुँह लगाए, अड़े और खड़े हैं? उफ इस देश के लोगों की हिये की आँखें मुँद गयी हैं, तभी तो इतने जुल्मों पर भी आदमी, आदमी से डरता है। ये लोग शरीर की रक्षा के लिए अपनी-अपनी आत्मा की चिता सँवारते फिरते हैं। नाश हो इस परतन्त्रवाद का!

दूसरे ने कहा—लोग ज्ञानी न हो सकें, इसलिए इस सरकार ने हमारे पढ़ने-लिखने के साधनों को अज्ञान से भर रखा है। लोग वीर और स्वाधीन न हो सकें, इसलिए अपमानजनक और मनुष्यता-नीति-मर्दक कानून गढ़े हैं। गरीबों को चूसकर सेना के नाम पर, पाले हुए पशुओं को शराब से, कवाव से, मोटा-ताजा रखती है, यह सरकार। धीरे-धीरे जोंक की तरह हमारे देश का धर्म, प्राण और धन चूसती चली जा रही है; यह लूटक शासन-प्रणाली। नाश हो इस प्रणाली का! इस प्रणाली की तसवीर—सरकार का!!

"तीसरा, वही बंगड़, बोला—सबसे बुरी बात यह है, जो सरकार रोब से—'सत्तावनी'—रोब से—धाक से, धाँधली से, धुआँ से; हम पर शासन करती है। यह आँखें खोलते ही, कुचल-कुचलकर, हमें दब्बू, कायर, हतवीर्य बनाती है। और किस लिए जरा सोचो तो। मुट्ठी भर मनुष्यों को अरुण, वरुण और कुवेर बनाये रखने के लिये। मुट्ठी-भर मन-चले सारे संसार की मनुष्यता की मिट्टी-पलीत करें, परमात्मा प्रदत्त स्वाधीनता का संहार करें—छिः! नाश हो ऐसे मन-चलों का!"

"ऐसे ही अण्ड-सण्ड ये बातूनी बका करते हैं; बाबू। जभी चार छोकरे जुड़े, तभी यही चर्चा। लाल के साथियों का मिजाज भी, उसी-सा, अल्हड़-बिल्हड़ मुझे मालूम पड़ता है। ये लड़के ज्यों-ज्यों पढ़ते जा रहे हैं, त्यों-त्यों बक-बक में बढ़ते भी जा रहे हैं।

"यह बुरा है, लाल की माँ !"—मैंने गहरी साँस ली।

(४)

जमीन्दारी के कुछ जरूरी काम से, चार-पाँच दिनों के लिए, बाहर गया था। लौटने पर, बँगले में घुसने के पूर्व, लाल के दरवाजे पर जो नजर पड़ी तो वहाँ एक भयानक सन्नाटा-सा नजर आया। जैसे घर उदास हो, रोता हो।

भीतर आने पर, मेरी धर्मपत्नी मेरे सामने उदास-मुख खड़ी हो गईं।

"तुमने सुना ?"

"नहीं तो, कौन-सी बात ?"

"लाल की माँ पर भयानक विपत्ति टूट पड़ी है।" मैं कुछ-कुछ समझ गया, फिर भी, विस्तृत विवरण जानने को उत्सुक हो उठा—"क्या हुआ ? जरा साफ-साफ बताओ।"

"वही हुआ, जिसका तुम्हें भय था। कल पुलिस की एक पलटन ने लाल का घर घेर लिया था। बारह घण्टे तक तलाशी हुई ! लाल, उसके बारह-पन्द्रह साथी, सभी पकड़ लिये गये हैं। सभी लड़कों के घरों की तलाशी हुई है। सब के घर से भयानक-भयानक चीजें निकली हैं।"

"लाल के यहाँ···?"

"उसके यहाँ भी दो पिस्तौल, बहुत से कारतूस और पत्र पाये गये हैं। सुना है, उन पर हत्या, षड्यन्त्र, सरकारी राज्य उलटने की चेष्टा आदि अपराध लगाये गये हैं।"

"हूँ"—मैंने ठण्डी साँस ली—"मैं तो महीनों से चिल्ला रहा था कि यह लौंडा धोखा देगा। अब वह बूढ़ी बेचारी मरी। वह कहाँ है ? तलाशी के बाद तुम्हारे पास आई थी ?"

"जानकी मेरे पास कहाँ आई। बुलवाने पर भी कल नकार गई। नौकर से कहलाया—पराठे बना रही हूँ, हलुआ तरकारी अभी बनाना है। नहीं तो वे विल्हड़ बच्चे हवालात में मुरझा न जायँगे। जेलवाले और उत्साही बच्चों की दुश्मन यह सरकार उन्हें भूखों मार डालेगी, मगर मेरे जीते जी यह नहीं होने का।"

"वह पागल है, भोगेगी।"—मैं दुःख से टूटकर एक चारपाई पर भहरा पड़ा। मुझे लाल के करमों पर घोर खेद हुआ।

इसके बाद प्रायः एक वर्ष तक वह मुकदमा चला। कोई भी अदालत के

कागज उलटकर देख सकता है। सी० आई० डी० ने—और उसके मुख सरकारी वकील ने—उन लड़कों पर बड़े-बड़े दोषारोप किये। उन्होंने चारों ओर गुप्त समितियाँ स्थापित की थीं, उनके खर्चे और प्रचार के लिए डाके डाले थे, सरकारी अधिकारियों के यहाँ रात में छापा मार कर शस्त्र एकत्र किये थे, पलटन में उन्होंने बगावत फैलाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने न जाने कहाँ, न जाने किस पुलिस के दरोगा को मारा था; और न जाने कहाँ, न जाने किस; पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट को! ये सभी बातें, सरकार की ओर से प्रमाणित की गईं।

उधर उन लड़कों की पीठ पर कौन था? प्रायः कोई नहीं। सरकार के डर के मारे पहले तो कोई वकील ही उन्हें नहीं मिल रहा था, फिर एक बेचारा मिला भी; तो, 'नहीं' का भाई। हाँ, उनकी पैरवी में सब से अधिक परेशान वह बूढ़ी रहा करती। वह सुबह-शाम उन बच्चों को—लोटा, थाली, जेवर आदि बेच-बेचकर भोजन पहुँचाती। फिर वकीलों के यहाँ जाकर दाँत निपोरती, गिड़गिड़ाती, कहती—

"सब झूठ है। न जाने कहाँ से, पुलिस वालों ने ऐसी-ऐसी चीजें हमारे घरों से पैदा कर दी हैं। वे लड़के केवल बातूनी हैं—हाँ, मैं भगवान का चरण छूकर कह सकती हूँ। तुम जेल में जाकर देख आओ वकील बाबू! भला वे फूल से बच्चे हत्या कर सकते हैं।"

उसका तन सूखकर काँटा हो गया, कमर झुककर धनुष-सी हो गई, आँखे निस्तेज, मगर उन बच्चों के लिए दौड़ना, हाय-हाय करना, उसने बन्द न किया। कभी-कभी सरकारी नौकर, पुलिस या वार्डर, झुंझलाकर उसे झिड़क देते, धकिया देते। तब वह खड़ी हो जाती छड़ी के सहारे कमर सीधी कर—"अरे, अरे! तुम कैसे जवान हो, कैसे आदमी हो। मैं तो उन भोले बच्चों के लिए दौड़ती-मरती हूँ और तुम मुझे धक्के दे रहे हो! मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, भैया?"

उसको अन्त तक यही विश्वास रहा कि यह सब पुलिस की चालबाजी है। अदालत में जब दूध-का-दूध और पानी-का-पानी किया जायगा, तब वे बच्चे जरूर बेदाग छूट जायँगे। वे फिर उसके घर में लाल के साथ आवेंगे। हा-हा-हो-हो करेंगे। उसे 'माँ' कहकर पुकारेंगे।

मगर, उस दिन उसकी कमर टूट गई, जिस दिन ऊँची अदालत ने भी, लाल को उस बेंगड़ लठैत तथा दो और लड़कों को फाँसी और दस को दस वर्ष से सात वर्ष तक की कड़ी सजाएँ दीं।

वह अदालत के बाहर झुकी खड़ी थी। बच्चे बेड़ियाँ बजाते मस्ती से झूमते, बाहर आये। सबसे पहले उस बँगड़ की नजर उस पर पड़ी—

"माँ!" वह मुस्कराया—"अरे, हमें तो हलुआ खिला-खिलाकर तूने गधा-सा तगड़ा कर दिया है ऐसा कि, फाँसी की रस्सी टूट जाय और, हम अमर के अमर बने रहें। मगर तू स्वयं सूखकर काँटा हो गयी है! क्यों पगली—तेरे अपने घर में खाना नहीं है क्या?—"

"माँ!"—उसके लाल ने कहा—"तू भी जल्द वहीं आना, जहाँ हम लोग जा रहे हैं। यहाँ से थोड़ी देर का रास्ता है माँ! एक साँस में पहुँचेगी। वहीं, हम स्वतन्त्रता से मिलेंगे। तेरी गोद में खेलेंगे। तुझे कन्धे पर उठाकर इधर-से-उधर दौड़ते फिरेंगे। समझती है? वहाँ बड़ा आनन्द है।"

"आवेगी न माँ?" – बँगड़ ने पूछा।

"आवेगी न माँ?"—लाल ने पूछा।

"आवेगी न माँ?"– फाँसी दण्ड प्राप्त दो दूसरे लड़कों ने भी पूछा।

और वह बकर-बकर उनका मुँह ताकती रही—"तुम कहाँ जाओगे पगलो?"

जब से लाल और उसके साथी पकड़े गये, तब से शहर या मुहल्ले का कोई भी आदमी लाल की माँ से मिलने में डरता था। उसे रास्ते में देखकर जान-पहचानी बगलें झाँकने लगते। मेरा स्वयं अपार प्रेम था उस बेचारी बूढ़ी पर; मगर, मैं भी बराबर दूर ही रहा। कौन अपनी गर्दन मुसीबत में डालता, विद्रोही की माँ से सम्बन्ध रखकर?

उस दिन, ब्यालू करने के बाद कुछ देर के लिए पुस्तकालय वाले कमरे में गया। वहीं किसी महान् लेखक की कोई महान् कृति क्षण भर देखने की लालच से। मैंने मेजिनी की एक जिल्द निकाल कर उसे खोली। उसके पहले ही पन्ने पर पेन्सिल की लिखावट देकर चौंका। ध्यान देने पर पता चला, लाल का वह हस्ताक्षर था। मुझे याद पड़ गयी। तीन बरस पूर्व, उस पुस्तक को मुझसे माँग-कर, उस लड़के ने पढ़ा था।

एक बार मेरे मन में बड़ा मोह उत्पन्न हुआ, उस लड़के के लिये। उसके वफादार पिता रामनाथ की दिव्य और स्वर्गीय तसवीर मेरी आँखों के आगे नाच गयी। लाल की माँ पर उस पाजी के सिद्धान्तों, विचारों या आचरणों के कारण जो वज्रपात हुआ था, उसकी एक ठेस मुझे भी, उसके हस्ताक्षर को देखते ही लगी। मेरे मुँह से एक गम्भीर, लाचार, दुर्बल साँस निकल कर रह गयी।

पर, दूसरे ही क्षण पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट का ध्यान आया। उसकी भूरी, सुहावनी, अमानवी आँखें मेरी, आप सुखी-तो-जग-सुखी आँखों में वैसे ही चमक गयीं, जैसे ऊजड़ गाँव के सिवान में कभी-कभी भुतही चिनगारी चमक जाया करती है। उसके रूखे फौलादी हाथ—जिनमें लाल की तसवीर थी—मानों मेरी गर्दन चापने लगे। मैं मेज पर 'इरेजर' (रबर) उठाकर उस पुस्तक पर से उसका नाम उधेड़ने लगा।

उसी समय मेरी पत्नी के साथ लाल की माँ वहाँ आयी। उसके हाथ में एक पत्र था।

"अरे!" मैं अपने को रोक न सका—"लाल की माँ! तुम तो बिलकुल पीली पड़ गई हो। तुम इस तरह मेरी ओर निहारती हो, मानों कुछ देख ही नहीं रही हो। यह, हाथ में क्या है?"

उसने, चुपचाप, पत्र मेरे हाथ में दे दिया। मैंने देखा उस पर जेल की मुहर थी। सजा सुनाने के बाद वह वहीं भेज दिया गया था, यह मुझे मालूम था।

मैं पत्र निकाल कर पढ़ने लगा। वह उसकी अन्तिम चिट्ठी थी। मैंने कलेजा रूखा कर, उसे जोर से पढ़ दिया।

"माँ!

जिस दिन तुम्हें यह पत्र मिलेगा उसके ठीक सवेरे मैं, बाल अरुण के किरण-रथ पर चढ़कर, उस ओर चला जाऊँगा। मैं चाहता तो अन्त समय तुमसे मिल सकता था; मगर इससे क्या फायदा? मुझे विश्वास है, तुम मेरी जन्म-जन्मान्तर की जननी हो, रहोगी! मैं तुमसे दूर कहाँ जा सकता हूँ? माँ—जब तक पवन साँस लेता है, सूर्य चमकता है; समुद्र लहराता है, तब तक कौन मुझे तुम्हारी करुणामयी गोद से दूर खींच सकता है?

"दिवाकर थमा रहेगा; अरुण, रथ लिये जमा रहेगा; मैं, बँगड़, वह-वह सभी तेरे इन्तजार में रहेंगे।

"हम मिले थे, मिले हैं, मिलेंगे—हाँ, माँ! तेरा—'लाल'।"

काँपते हाथ से, पढ़ने के बाद, पत्र को मैंने उस भयानक लिफाफे में भर दिया। मेरी पत्नी की विकलता हिचकियों पर चढ़ा कर कमरे को करुणा से कँपाने लगी। मगर वह जानकी ज्यों-की-त्यों, लकड़ी पर झुकी, पूरी खुली और भावहीन आंखों से मेरी ओर देखती रही। मानों वह उस कमरे में थी ही नहीं।

क्षण भर बाद हाथ बढ़ाकर, मौन भाषा में, उसने पत्र माँगा। और फिर,

बिना कुछ कहे, कमरे के —घर के—फाटक के बाहर हो गयी, डुगुर-डुगुर, लाठी टेकती हुई।

इसके बाद शून्य-सा होकर मैं धम से कुर्सी पर गिर पड़ा। माथा चक्कर खाने लगा। उस पाजी लड़के के लिए नहीं, इस सरकार की क्रूरता के लिए भी नहीं—उस बेचारी, भोली, बूढ़ी जानकी—लाल की माँ—के लिए। आह! वह कैसी स्तब्ध थी। उतनी स्तब्धता किसी दिन प्रकृति को मिलती तो आँधी आ जाती। समुद्र पाता, तो बौखला उठता।

जब एक का घण्टा बजा, मैं जरा सगबगाया। ऐसा मालूम पड़ने लगा, मानो, हरारत पैदा हो गयी है—माथे में, छाती में, रग-रग में। पत्नी ने आकर कहा—"बैठे ही रहोगे, सोओगे, नहीं?" मैंने इशारे से उन्हें जाने को कहा।

फिर, मेजिनी की जिल्द पर नजर गयी। उसके ऊपर पड़े रबर पर भी। फिर, अपने सुखों की, जमीन्दारी की, धनिक-जीवन की और उस पुलिस अधिकारी की निर्दय, नीरस, निस्तार आँखों की स्मृति कलेजे में कम्पन कर गई! फिर, रबर उठाकर, मैंने उस पाजी का पेंसिल-खचित नाम, पुस्तक की छाती पर से, मिटा डालना चाहा।

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ··· ······!"

मुझे सुनाई पड़ा। ऐसा लगा, गोया लाल की माँ कराह रही है। मैं रबर हाथ में लिये, दहलते दिल से, खिड़की की ओर बढ़ा, लाल के घर की ओर देखने के लिए। पर, चारों ओर अन्धकार था, कुछ नहीं दिखाई पड़ा। कान लगाने पर कुछ सुनाई भी न पड़ा। मैं सोचने लगा, भ्रम होगा। वह अगर कराहती होती तो एकाध आवाज और अवश्य सुनाई पड़ती। वह कराहनेवाली औरत है भी नहीं। रामनाथ के मरने पर भी उस तरह नहीं घिघियाई थी जैसे साधारण स्त्रियाँ ऐसे अवसरों पर तड़पा करती हैं।

मैं पुनः उसी को सोचने लगा। वह उस नालायक के लिए क्या नहीं करती थी। खिलौना की तरह, आराध्य की तरह उसे दुलराती और सँवारती फिरती थी, पर आह रे छोकरे!···

"माँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ!"

फिर वही आवाज! जरूर जानकी रो रही है, वैसे ही जैसे कुर्बानी के पूर्व गाय रोवे। जरूर वही विकल, व्यथित, विवश बिलख रही है। हाय री माँ!

अभागिनी वैसे ही पुकार रही है, जैसे वह पाजी गाकर, मचलकर, स्वर को खींचकर उसे पुकारता था।

अँधेरा धूमिल हुआ, फीका पड़ा, मिट चला, उषा पीली हुई, लाल हुई। अरुण रथ लेकर वहाँ—क्षितिज के उस छोर पर—आ कर पवित्र मन से, खड़ा हो गया। मुझे लाल के पत्र की याद आ गयी।

"माँ ! ! ! ! ! ! !"

मानो, लाल पुकार रहा था; मानो, जानकी प्रतिध्वनि की तरह उसी पुकार को गा रही थी। मेरी छाती धक्-धक् करने लगी। मैंने नौकर को पुकार कर कहा—

देखो तो, लाल की माँ क्या कर रही है ?"

जब वह लौट कर आया, तब मैं—एक बार पुनः मेज और मेजिनी के सामने खड़ा था। हाथ में रबर लिए उसी—उसी—उसी उद्देश्य से। उसने घबड़ाए स्वर में कहा—

"हुजूर, उनकी तो अजीब हालत है। घर में ताला पड़ा है और दरवाजे पर पाँव पसारे, हाथ में कोई चिट्ठी लिये मुँह खोले, मरी बैठी हैं। हाँ, सरकार ! विश्वास मानिये, वह मर गयी हैं। साँस बन्द है, आँखें खुलीं।"

—

शरणागत

[श्री वृन्दावनलाल वर्मा]

रज्जब अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था और सुनसान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं-न-कहीं लेना ही था, इसलिए उसने मड़पुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी स्त्री को बुखार हो आया था, रकम पास में थी, और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पैजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत-से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत-से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीद ले जा चुका था।

अपने जानकारों से उसने रात-भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और छिपे-लुके बेंचे थे। ठहराने में तुरन्त ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिए सबों ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे, जिनका हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु उसको गाँववाले 'गढ़ी' के आदर-व्यंजक शब्द में पुकारा करते थे, और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधित करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वर-ग्रस्त पत्नी

को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके—"दाऊजू, एक बिनती है।"

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले-डुलने पूछा—"क्या ?"

रज्जब बोल— 'मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिए रात-भर के लिए कहीं दो हाथ की जगह दे जी जाय।"

"कौन लोग हो ?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर को बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला – "जानता है, यह किसका घर है ? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने ?"

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है, इसीलिए शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों से कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला—"किसी ने तुझको बसेरा नहीं दिया ?"

"नहीं महाराज" रज्जब ने उत्तर दिया —"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे के बाहर ही, एक कोने से चिपटकर, बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा—"तुम अपनी चिलम लिए हो ?"

"हाँ, सरकार।" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—"तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पीलो। अपनी औरत को भी भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब वे दोनों भीतर आ गये, ठाकुर ने पूछा—"तुम कब यहाँ से उठकर चले जाओगे ?" जवाब मिला—"अँधेरे में ही महाराज ! खाने के लिये रोटियाँ बाँधे हूँ, इसलिये पकाने की जरूरत न पड़ेगी।'

"तुम्हारा नाम ?"

"रज्जब।"

२

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?"

रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किस लिये गये थे।"

"अपने रोजगार के लिये।"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ ? पेट के लिये करना ही पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिये जो रोजगार मुकर्रर किया है, वही उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफा हुआ ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर।

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है—यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई जिद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठकर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबीयत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन-भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गये कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। फटी-सी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे-से कहा—"दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल सन्ध्या का सगुन बैठा है!"

ठाकुर ने कहा—"आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था ?"

"हाँ" आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परन्तु हम लोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। जरा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छुएँगे।"

"क्यों ?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"परन्तु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर-का-बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी।

ठाकुर भी सो गया।

३

सवेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हलका हो गया था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देख कर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मिहमान इकट्ठे किये हैं। गाँव-भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देख कर तरह-तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ, इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, परन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव-भर उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोक-मत का दबदबा उसके भी मन पर था। इसलिये रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दू-मात्र को मन-ही-मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर-आध-पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिये राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को जोर का बुखार हो आया। वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। चलने में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिये यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम-से-कम कँपकँपी बन्द न हो जाय।

घण्टे-डेढ़-घण्टे बाद उसकी कँपकँपी तो बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत

तेज हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया, और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन-भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो?"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—"इतने किराए में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो। मैं तो घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—"भाई, आफत सब के ऊपर आती है। मनुष्य-मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गई।

उसको टस-से-मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये। तब उसने गाड़ी हाँकी।

४

पाँच छः मील चलने के बाद संध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली। रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अण्टी का बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया—गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही देने पड़े थे। उसे गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया।

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा?"

"बहुत दूर। वहीं ठहरेंगे।"

"किस के यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल का फिर पैसा माँग उठना।"

"कैसे माँग उठूंगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूंगा?"

"जैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था। बेटा! ललितपुर होता तो बतला देता।"

"क्या बतला देते ? क्या सेंत-मेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे ?"

"क्यों वे, क्या रुपये देकर भी सेंत-मेंत का बैठना कहता है ? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो साले यहीं छुरी से काट कर कहीं फेंक दूँगा, और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट करना नहीं चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली-भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला, और तब निकला ! रज्जब की बात सुनकर उसकी हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ा, मानो पसलियों में उसकी ठंढी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा। उसने सोचा—"गाँव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला-गुल्ला करके गँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले !"

५

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठक कर खड़े हो गये। रज्जब सामने नहीं देख रहा था, इसलिए जरा अकड़ कर गाड़ीवान से बोला—"क्यों वे बदमाश, सो गया क्या ?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कण्ठ से निकला—"खबरदार जो आगे बढ़ा !"

रज्जब ने सामने देखा, चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लट्ठ बाँध कर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें से तुरन्त ही एक ने बैलों की जुँआरी पर एक लट्ठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है ?"—एक ने गरजकर पूछा।

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिये।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी। गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—"महाराज मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये पर गाड़ी लिए जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने पैसे ही हैं।"

"और यह कौन है? बतला।"—उन लोगों में से एक ने पूछा।

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—"ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई। लाठीवाले के मुँह से निकला—"तुम कसाई हो? सच बतलाओ।"

"हाँ, महाराज" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया "मैं बहुत गरीब हूँ। हाथ जोड़ता हूँ, मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत जोर से कराही।

लाठीवाले उस आदमी ने अपने एक साथी के कान में कहा—"इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहाँ से।"

उसने न माना। बोला—"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो दाऊजू; यदि ऐसे न माने तो—असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा" उसने कहा—"इस पर हाथ नहीं पसारेंगे, और इसका न पैसा छुएँगे।"

दूसरा बोला—"क्या कसाई होने से? दाऊजू, आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं, मैं देखता हूँ।" और, तुरन्त लाठी लेकर गाड़ी में चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरन्त रुपया-पैसा निकाल कर दे देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा—"नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से" गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—"मैं कसाइयों की दवा हूँ।" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—"खबरदार, जो उसे छुआ! नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

गाड़ीवान लठैत झख-सी मार कर नीचे उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—"सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला—"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना तब लौटना। नहीं तो अपनी खैर मत समझिओ। और,

तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की तो भूसी की आग में जलाकर खाक कर दूँगा ।"

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया । उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—दाऊजू, आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा ।" दाऊजू ने कहा—"न आना । मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ । परन्तु बुँदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना ।"

———

मिठाईवाला

[श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी]

१

बहुत ही मीठे स्वरों के साथ वह गलियों में घूमता हुआ कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला।"

इस अधूरे वाक्य को वह ऐसे विचित्र, किन्तु मादक, मधुर ढंग से गाकर कहता कि सुनने वाले एक बार अस्थिर हो उठते। उसके स्नेहाभिषिक्त कण्ठ से फूटा हुआ उपर्युक्त गान सुनकर निकट के मकानों में हलचल मच जाती। छोटे-छोटे बच्चों को अपनी गोद में लिये हुए युवतियाँ चिकों को उठाकर छज्जों पर से नीचे झाँकने लगतीं। गलियों और उनके अन्तर्व्यापी छोटे-छोटे उद्यानों में खेलते और इठलाते हुए बच्चों का झुण्ड उसे घेर लेता, और तब वह खिलौनेवाला वहीं कहीं बैठ कर खिलौने की पेटी खोल देता।

बच्चे खिलौने देखकर पुलकित हो उठते। वे पैसे लाकर खिलौनों का मोल-भाव करने लगते। पूछते—इछका दाम क्या है, औल इछका, और इछका? खिलौनेवाला बच्चों को देखता, उनकी नन्हीं-नन्हीं अँगुलियों और हथेलियों से पैसे ले लेता और बच्चों के इच्छानुसार उन्हें खिलौने दे देता। खिलौने लेकर फिर बच्चे उछलने-कूदने लगते और तब फिर खिलौनेवाला उसी प्रकार गाकर कहता—"बच्चों को बहलानेवाला, खिलौनेवाला"। सागर की हिलोर की भाँति उसका वह मादक गान गली-भर के मकानों में, इस ओर से उस ओर तक, लहराता हुआ पहुँचता और खिलौनेवाला आगे बढ़ जाता।

राय विजय बहादुर के बच्चे भी एक दिन खिलौने लेकर घर आये। वे दो बच्चे थे—चुन्नू और मुन्नू। चुन्नू जब खिलौना ले आया, तो बोला—मेला घोलां कैछा छुन्दल ऐ।

मुन्नू बोला—औल देखो, मेला आती कैछा छुन्दल ऐ !

दोनों अपने हाथी-घोड़े लेकर घर-भर में उछलने लगे। इन बच्चों की माँ रोहिणी कुछ देर तक खड़े-खड़े उनका खेल निरखती रही। अन्त में दोनों बच्चों को बुलाकर उसने उनसे पूछा—अरे चुन्नू-मुन्नू, ये खिलौने तुमने कितने में लिये हैं ?

मुन्नू बोला—दो पैछे में ! थिलौनेवाला दे गआ ऐ !

रोहिणी सोचने लगी—इतने सस्ते कैसे दे गया है ?

कैसे दे गया है, यह तो वही जाने। लेकिन दे तो गया ही है, इतना तो निश्चय है।

एक ज़रा-सी बात ठहरी, रोहिणी अपने काम में लग गई। फिर कभी उसे इस पर विचार करने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ती।

२

छै महीने बाद—

नगर-भर में दो ही चार दिनों में एक मुरलीवाले के आने का समाचार फैल गया। लोग कहने लगे—भई वाह ! मुरली बजाने में वह एक ही उस्ताद है। मुरली बजाकर, गाना सुनाकर वह मुरली बेचता भी है। सो भी दो-दो पैसे। भला इसमें उसे क्या मिलता होगा ! मेहनत भी तो न आती होगी।

एक व्यक्ति ने पूछ दिया—कैसा है वह मुरलीवाला मैंने तो उसे नहीं देखा।

उत्तर मिला—उम्र तो उसकी अभी अधिक न होगी, यही तीस-बत्तिस का होगा। दुबला-पतला गोरा युवक है, बीकानेरी रंगीन साफा बाँधता है।

"वही तो नहीं, जो पहले खिलौने बेचा करता था ?"

"क्या वह पहले खिलौने भी बेचता था ?"

"हाँ, जो आकार-प्रकार तुमने बतलाया, उसी प्रकार का वह भी था।"

"तो वही होगा। पर भई, है वह एक ही उस्ताद।"

प्रतिदिन इसी प्रकार उस मुरलीवाले की चर्चा होती। प्रतिदिन नगर की प्रत्येक गली में उसका मादक मृदुल स्वर सुनाई पड़ता—"बच्चों को बहलानेवाला मुरलियावाला !"

रोहिणी ने भी मुरलीवाले का यह स्वर सुना। तुरन्त ही उसे खिलौनेवाले का स्मरण हो आया। उसने मन-ही-मन कहा—खिलौनेवाला भी इसी तरह गा-गा कर खिलौने बेचा करता था।

रोहिणी उठकर अपने पति विजय बाबू के पास गई। बोली—जरा उस मुरलीवाले को बुलाओ तो, चुन्नू-मुन्नू के लिए ले लूं। क्या जाने यह फिर इधर आये, न आये। वे भी, जान पड़ता है, पार्क में खेलने निकल गये हैं।

विजय बाबू एक समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। उसी तरह उसे लिये हुए वे दरवाजे पर आकर मुरलीवाले से बोले—क्यों भई, किस तरह देते हो मुरली?

किसी की टोपी गली में गिर पड़ी। किसी का जूता पार्क में ही छूट गया और किसी की सोथनी (पायजामा) ही ढीली होकर लटक आई। इस तरह दौड़ते-हाँफते हुए बच्चों का झुण्ड आ पहुँचा। एक स्वर से सब बोल उठे—"अम बी लेंदे मुल्ली, और अम बी लेंदे मुल्ली।"

मुरलीवाला हर्ष-गद्गद हो उठा। बोला—सब को देंगे भैया, जरा रुको, जरा ठहरो, एक-एक को लेने दो। अभी इतनी जल्दी हम कहीं लौट थोड़े ही जायँगे। बेचने तो आये ही हैं और हैं भी इस समय मेरे पास एक-दो नहीं, पूरी सत्तावन।...हाँ बाबू जी, क्या पूछा था आपने; कितने में दीं?...दी तो वैसे तीन-तीन पैसे के हिसाब से है, पर आपको दो-दो पैसे में ही दे दूंगा।

विजय बाबू भीतर बाहर दोनों रूपों में मुस्करा दिये। मन-ही-मन कहने लगे--कैसा ठग है! देता सबको इसी भाव से है, पर मुझ पर उल्टा एहसान लाद रहा है। फिर बोले—तुम लोगों की झूठ बोलने की आदत ही होती है। देते होंगे सभी को दो-दो पैसे में, पर एहसान का बोझ मेरे ही ऊपर लाद रहे हो!

मुरलीवाला एकदम अप्रतिभ हो उठा। बोला—आपको क्या पता बाबू जी कि इनकी असली लागत क्या है। यह तो ग्राहकों का दस्तूर होता है कि दूकानदार चाहे हानि ही उठा कर चीज क्यों न बेचे, पर ग्राहक यही समझते हैं—दूकानदार मुझे लूट रहा है।...आप भला काहे को विश्वास करेंगे। लेकिन सच पूछिये तो बाबू जी, इनका असली दाम दो ही पैसा है। आप कहीं से भी दो-दो पैसे में ये मुरलियाँ नहीं पा सकते। मैंने तो पूरी एक हजार बनवाई थीं, तब मुझे इस भाव पड़ी हैं।

विजय बाबू बोले—अच्छा-अच्छा, मुझे ज्यादा वक्त नहीं है, जल्दी से दो ठो निकाल दो।

दो मुरलियाँ लेकर विजय बाबू फिर मकान के भीतर पहुँच गये।

मुरलीवाला देर तक उन बच्चों के झुण्ड में मुरलियाँ बेचता रहा। उसके

पास कई रंग की मुरलियाँ थीं। बच्चे जो रंग पसन्द करते, मुरलीवाला उसी रंग की मुरली निकाल देता।

"यह बड़ी अच्छी मुरली है, तुम यही ले लो बाबू राजा बाबू, तुम्हारे लायक तो बस यह है।...हाँ, भैये, तुमको वही देंगे। ये लो।...तुमको वैसी न चाहिए, ऐसी चाहिए ?—यह नारंगी रंग की ?—अच्छा यही लो।...पैसे नहीं हैं ? अच्छा, अम्मा से पैसे ले आओ। मैं अभी बैठा हूँ।...तुम ले आये पैसे ?... अच्छा, ये लो तुम्हारे लिए मैंने पहले ही से यह निकाल रक्खी थी।...तुमको पैसे नहीं मिले ! तुमने अम्मा से ठीक तरह से माँगे न होंगे ? धोती पकड़ के, पैरों में लिपट के, अम्मा से पैसे माँगे जाते हैं बाबू। हाँ, फिर जाओ। अबकी बार मिल जायँगे।...दुअन्नी है ? तो क्या हुआ, ये छै पैसे वापस लो। ठीक हो गया न हिसाब ?...मिल गये पैसे ! देखो, मैंने कैसी तरकीब बताई ! अच्छा, अब तो किसी को नहीं लेना है ?—सब ले चुके ? तुम्हारी माँ के पास पैसे नहीं हैं ! अच्छा, तुम भी यह लो।...अच्छा तो, अब मैं चलता हूँ।"

इस तरह मुरलीवाला फिर आगे बढ़ गया।

३

आज अपने मकान में बैठी हुई रोहिणी मुरलीवाले की सारी बातें सुनती रही। आज भी उसने अनुभव किया, बच्चों के साथ इतने प्यार से बातें करनेवाला फेरीवाला पहले कभी नहीं आया। फिर, वह सौदा भी कैसा सस्ता बेचता है और आदमी कैसा भला जान पड़ता है ! समय की बात है, जो बेचारा इस तरह मारा-मारा फिरता है। पेट जो न कराये सो थोड़ा।

इसी समय मुरलीवाले का क्षीण स्वर निकट की दूसरी गली से सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मुरलियावाला !

रोहिणी इसे सुनकर मन-ही-मन कहने लगी—और, कैसा मीठा स्वर है इसका !

बहुत दिनों तक रोहिणी को मुरलीवाले का यह मीठा स्वर और उसकी बच्चों के प्रति स्नेह-सिक्त बातें याद आती रहीं। महीने-के-महीने आये और चले गये। पर मुरलीवाला न आया। फिर धीरे-धीरे उसकी स्मृति भी क्षीण होती गई।

४

आठ मास बाद—

सरदी के दिन थे। रोहिणी स्नान करके अपने मकान की छत पर चढ़कर आजानुविलम्बित केश-राशि सुखा रही थी। इसी समय नीचे की गली में सुनाई पड़ा—बच्चों को बहलानेवाला, मिठाईवाला।

मिठाईवाले का यह स्वर परिचित था, झट से रोहिणी नीचे उतर आई। इस समय उसके पति मकान में नहीं थे। हाँ, उसकी वृद्धा दादी थी। रोहिणी उनके निकट आकर बोली—दादी, चुन्नू-मुन्नू के लिए मिठाई लेनी है। जरा कमरे में चल कर ठहराओ तो। मैं उधर कैसे जाऊँ, कोई आता न हो। जरा हट कर मैं भी चिक की ओट में बैठी रहूँगी।

दादी उठ कर कमरे में आकर बोली—ए मिठाईवाले, इधर आना।

मिठाईवाला निकट आ गया। बोला—माँ, कितनी मिठाई दूँ? नयी तरह की मिठाइयाँ हैं; रंग-बिरंगी, कुछ-कुछ खट्टी, कुछ-कुछ मीठी और जायकेदार। बड़ी देर तक मुँह में टिकती हैं। जल्दी नहीं घुलतीं। बच्चे इन्हें बड़े चाव से चूसते हैं। इन गुणों के सिवा ये खाँसी को भी दूर करती हैं। कितनी दूँ? चपटी, गोल और पहलदार गोलियाँ हैं। पैसे की सोलह देता हूँ।

दादी बोली—सोलह तो बहुत कम होती हैं; भला पचीस तो देते।

मिठाईवाला—नहीं दादी, अधिक नहीं दे सकता। इतनी भी कैसे देता हूँ, यह अब मैं तुम्हें क्या···। खैर, मैं अधिक तो न दे सकूँगा।

रोहिणी दादी के पास ही बैठी थी। बोली—दादी, फिर भी काफी सस्ती दे रहा है। चार पैसे की ले लो। ये पैसे रहे।

मिठाईवाला मिठाइयाँ गिनने लगा।

"तो चार पैसे की दे दो! अच्छा, पचीस न सही, बीस ही दो। अरे हाँ, मैं बूढ़ी हुई, मोल-भाव मुझे तो अब ज्यादा कर भी नहीं आता।"—कहते हुए दादी के पोपले मुँह की जरा-सी मुसकराहट भी फूट निकली।

रोहिणी ने दादी से कहा—दादी इससे पूछो, तुम इस शहर में और भी कभी आये थे, या पहली ही बार आये हो। यहाँ के निवासी तो तुम हो नहीं।

दादी ने इस कथन को दोहराने की चेष्टा की ही थी कि मिठाईवाले ने उत्तर दिया—पहली बार नहीं; और भी कई बार आ चुका हूँ।

रोहिणी चिक की आड़ ही से बोली—पहले यही मिठाई बेचते हुए आये थे, या और कोई चीज लेकर?

मिठाईवाला हर्ष, संशय और विस्मयादि भावों में डूबकर बोला—इससे पहले मुरली लेकर आया था, और उससे भी पहले खिलौने लेकर।

रोहिणी का अनुमान ठीक निकला। अब तो वह उससे और भी कुछ बातें पूछने के लिए अस्थिर-अधीर हो उठी। वह बोली—इन व्यवसायों में भला तुम्हें क्या मिलता होगा?

वह बोला—मिलता तो भला क्या है, यही खाने भर को मिल जाता है। कभी नहीं भी मिलता है। पर हाँ, सन्तोष और धीरज और कभी-कभी असीम सुख जरूर मिलता है। और, यही मैं चाहता भी हूँ।

"सो कैसे? वह भी बताओ।"

"अब व्यर्थ में उन बातों की चर्चा क्यों करूँ। उन्हें आप जाने ही दें। उन बातों को सुन कर आपको दुःख ही होगा।"

"जब इतना बताया है, तब और भी बता दो। मैं बहुत उत्सुक हूँ। तुम्हारा हर्जा न होगा। और भी मिठाई मैं ले लूँगी।"

अतिशय गम्भीरता के साथ मिठाईवाले ने कहा—

"मैं भी अपने नगर का एक प्रतिष्ठित आदमी था। मकान, व्यवसाय, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर सभी कुछ था। स्त्री थी, छोटे-छोटे दो बच्चे भी थे। मेरा वह सोने का संसार था। बाहर सम्पत्ति का वैभव था, भीतर सांसारिक सुख का। स्त्री सुन्दरी थी, मेरा प्राण थी। बच्चे ऐसे सुन्दर थे, जैसे सोने के सजीव खिलौने। उनकी अठखेलियों के मारे घर में कोलाहल मचा रहता था। समय की गति! विधाता की लीला! अब कोई नहीं है। दादी, प्राण निकाले नहीं निकले। इसीलिए अपने उन बच्चों की खोज में निकला हूँ। वे सब अन्त में होंगे तो यहीं कहीं। आखिर कहीं-न-कहीं जन्मे ही होंगे। उस तरह रहता तो घुल-घुल कर मरता। इस तरह सुख सन्तोष के साथ मरूँगा। इस तरह के जीवन में कभी-कभी अपने उन बच्चों की एक झलक-सी मिल जाती है। ऐसा जान पड़ता है, जैसे वे इन्हीं में उछल-उछल कर हँस-खेल रहे हैं। पैसों की कमी थोड़े ही है। आपकी दया से पैसे तो काफी हैं। जो नहीं है, इस तरह उसी को पा जाता हूँ।"

रोहिणी ने अब मिठाईवाले की ओर देखा। देखा—उसकी आँखें आँसुओं से तर हैं।

इसी समय चुन्नू-मुन्नू आ गये। रोहिणी से लिपटकर, उसका अंचल पकड़कर बोले—अम्मा, मिठाई !

'मुझसे लो'—कहकर तत्काल कागज की दो पुड़ियों में मिठाइयाँ भरकर मिठाईवाले ने चुन्नू-मुन्नू को दे दीं।

रोहिणी ने भीतर से पैसे फेंक दिये।

मिठाईवाले ने पेटी उठाई और कहा—अब इस बार ये पैसे न लूंगा।

दादी बोली—अरे-अरे न-न, अपने पैसे लिए जा भाई !

किन्तु तब तक आगे सुनाई पड़ा, उसी प्रकार मादक मृदुल स्वर में—बच्चों को बहलानेवाला मिठाईवाला।

———

प्रायश्चित्त

[श्री भगवतीचरण वर्मा]

अगर कबरी बिल्ली घर भर में किसी से प्रेम करती थी तो रामू की बहू से, और अगर रामू की बहू घर भर में किसी से घृणा करती थी तो कबरी बिल्ली से। रामू की बहू दो महीना हुआ मायके से प्रथम बार ससुराल आई थी, पति की प्यारी और सास की दुलारी, चौदह वर्ष की बालिका। भंडार-घर की चाभी उसकी करधनी में लटकने लगी, नौकरों पर उसका हुक्म चलने लगा, और रामू की बहू घर में सब कुछ; सास जी ने माला लिया और पूजा-पाठ में मन लगाया।

लेकिन ठहरी चौदह वर्ष की बालिका, कभी भंडार-घर खुला है तो कभी भंडार-घर में बैठे-बैठे सो गई। कबरी बिल्ली को मौका मिला, घी-दूध पर अब वह जुट गई। रामू की बहू की जान आफत में और कबरी बिल्ली के छक्के-पंजे। रामू की बहू हाँड़ी में घी रखते-रखते ऊँघ गई और बचा हुआ घी कबरी के पेट में। रामू की बहू दूध ढँककर मिसरानी को जिन्स देने गई और दूध नदारद। अगर बात यह यहीं तक रह जाती तो भी बुरा न था, कबरी रामू की बहू से कुछ ऐसा परक गई थी कि रामू की बहू के लिए खाना-पीना दुश्वार। रामूकी वहू के कमरे में रबड़ी से भरी कटोरी पहुँची और रामू जब आये तब कटोरी साफ चटी हुई। बाजार से बालाई आई और जब तक रामू की बहू ने पान लगाया, बालाई गायब। रामू की बहू ने तै कर लिया कि या तो वही घर में रहेगी या फिर कबरी बिल्ली ही। मोरचा बन्दी हो गई और दोनों सतर्क। बिल्ली फँसाने का कटघरा आया, उसमें दूध, बालाई, चूहे और भी बिल्ली को स्वादिष्ट लगनेवाले विविध प्रकार के व्यंजन रखे गये, लेकिन बिल्ली ने उधर निगाह तक न डाली। इधर कबरी ने सरगर्मी दिखलाई। अभी तक तो वह रामू की बहू से डरती थी; पर अब वह साथ लग गई, लेकिन इतने फासिले पर कि

रामू की बहू उस पर हाथ न लगा सके।

कबरी के हौसले बढ़ जाने से रामू की बहू को घर में रहना मुश्किल हो गया। उसे मिलती थी सास की मीठी झिड़कियाँ, और पति देव को मिलता था रूखा-सूखा भोजन।

एक दिन रामू की बहू ने रामू के लिये खीर बनाई। पिस्ता, बादाम, मखाने और तरह-तरह के मेवे दूध में औटाये गये, सोने का वर्क चिपकाया गया और खीर से भरकर कटोरा कमरे के एक ऐसे ऊँचे ताक पर रख गया, जहाँ बिल्ली न पहुँच सके। रामू की बहू इसके बाद पान लगाने में लग गई।

उधर कमरे में बिल्ली आई, ताक के नीचे खड़े होकर उसने ऊपर कटोरे की ओर देखा, सूँघा माल अच्छा है, ताक की ऊँचाई अन्दाजी और रामू की बहू पान लगा रही है। पान लगाकर रामू की बहू सास जी को पान देने चली गई और कबरी ने छलाँग मारी, पंजा कटोरे में लगा और कटोरा झनझनाहट की आवाज के साथ फर्श पर।

आवाज रामू की बहू के कान में पहुँची, सास के सामने पान फेंककर वह दौड़ी, क्या देखती है कि फूल का कटोरा टुकड़े-टुकड़े; खीर फर्श पर और बिल्ली डट कर खीर उड़ा रही है। रामू की बहू को देखते ही कबरी चम्पत।

रामू की बहू पर खून सवार हो गया, न रहे बाँस न बजे बाँसुरी। रामू की बहू ने कबरी की हत्या पर कमर कस ली। रात भर उसे नींद न आई, किस दाँव से कबरी पर वार किया जाय कि फिर जिन्दा न बचे, यही पड़े-पड़े सोचती रही। सुवह हुई और वह देखती है कि कबरी देहरी पर बैठी बड़े प्रेम से उसे देख रही है।

रामू की बहू ने कुछ सोचा, इसके बाद मुसकराती हुई वह उठी, कबरी रामू की बहू के उठते ही खिसक गई। रामू की बहू एक कटोरा दूध कमरे के दरवाजे की देहरी पर रखकर चली गई। हाथ पाटा लेकर वह लौटी तो देखती है कि कबरी दूध पर जुटी हुई है। मौका हाथ में आ गया। सारा बल लगाकर पाटा उसने बिल्ली पर पटक दिया। कबरी न हिली न डुली, न चीखी न चिल्लाई, बस एकदम उलट गई।

आवाज जो हुई तो महरी झाड़ू छोड़ कर, मिसरानी रसोई छोड़ कर और सास पूजा छोड़ कर घटनास्थल पर उपस्थित हो गईं। रामू की बहू सिर झुकाये हुए अपराधिनी की भाँति बातें सुन रही है।

महरी बोली—अरे राम, बिल्ली तो मर गई। माँ जी बिल्ली की हत्या बहू से हो गई, यह तो बुरा हुआ।

मिसरानी बोली—माँ जी, बिल्लो की हत्या और आदमी की हत्या बराबर है। हम तो रसोई न बनावेंगी, जब तक बहू के सिर हत्या रहेगी।

सास जी बोलीं—हाँ ठीक तो कहती हो, अब जब तक बहू के सिर से हत्या न उतर जाय तब तक न कोई पानी पी सकता है न खाना खा सकता है। बहू, यह क्या कर डाला!

महरी ने कहा—फिर क्या हो, कहो तो पंडित जी को बुलाय लाई।

सास की जान में जान आई—अरे हाँ, जल्दी दौड़ के पंडित जी को बुला ला।

बिल्ली की हत्या की खबर बिजली की तरह पड़ोस में फैल गई। पड़ोस की औरतों का रामू के घर में ताँता बँध गया। चारों तरफ से प्रश्नों की बौछार और रामू की बहू सिर झुकाये बैठी।

पण्डित परमसुख को जब यह खबर मिली उस समय वे पूजा कर रहे थे। खबर पाते ही वे उठ पड़े—पण्डिताइन से मुस्कराते हुए बोले—भोजन न बनाना। लाला घासीराम की पतोहू ने बिल्ली मार डाली। प्रायश्चित्त होगा, पकवानों पर हाथ लगेगा।

पण्डित परमसुख चौबे छोटे-से मोटे-से आदमी थे। लम्बाई चार फीट दस इंच, और तोंद का घेरा अट्ठावन इंच। चेहरा गोल-मटोल, मूँछ बड़ी-बड़ी, रंग गोरा, चोटी कमर तक पहुँचती हुई।

कहा जाता है कि मथुरा में जब पंसेरी खुराक वाले पण्डितों को ढूंढ़ा जाता था तो पण्डित परमसुख जी को उस लिस्ट में प्रथम स्थान दिया जाता था।

पण्डित परमसुख पहुँचे, और कोरम पूरा हुआ। पंचाइत बैठी—सास जी, मिसरानी, किसनू की माँ, छन्नू की दादी और पण्डित परमसुख! बाकी स्त्रियाँ बहू से सहानुभूति प्रकट कर रही थीं।

किसनू की माँ ने कहा—पण्डित जी बिल्ली की हत्या करने से कौन नरक मिलता है?

पण्डित परमसुख ने पत्रा देखते हुए कहा—बिल्ली की हत्या अकेले से तो नरक का नाम नहीं बतलाया जा सकता, वह महूरत भी जब मालूम हो जब बिल्ली की हत्या हुई तब नरक का पता लग सकता है।

'यही कोई सात बजे सुबह।' मिसरानी जी ने कहा।

पण्डित परमसुख ने पन्ने के पन्ने उलटे, अक्षरों पर उँगलियाँ चलाईं, मत्थे पर हाथ लगाया और कुछ सोचा। चेहरे पर धुँधलापन आया। माथे पर बल पड़े, नाक कुछ सिकुड़ी और स्वर गम्भीर हो गया, हरे कृष्ण! हरे कृष्ण! बड़ा बुरा हुआ, प्रातःकाल ब्राह्म-मुहूर्त्त में बिल्ली की हत्या! घोर कुम्भीपाक नरक का विधान है। रामू की माँ, यह तो बड़ा बुरा हुआ।

रामू की माँ की आँखों में आँसू आ गये। तो फिर पण्डित जी अब क्या होगा, आप ही बतलाएँ?

पण्डित परमसुख मुसकराये— रामू की माँ, चिन्ता की कौन-सी बात है, हम पुरोहित फिर कौन दिन के लिए हैं? शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान है सो प्रायश्चित्त से सब कुछ ठीक हो जायगा।

रामू की माँ ने कहा—पण्डित जी इसीलिए तो आपको बुलवाया था, अब आगे बतलाओ कि क्या किया जाय?

"किया क्या जाय—यही एक सोने की बिल्ली बनवा कर बहू से दान करवा दी जाय—जब तक बिल्ली न दे दी जायगी तब तक तो घर अपवित्र रहेगा, बिल्ली दान देने के बाद एक्कीस दिन का पाठ हो जाय।"

छन्नू की दादी—हाँ और क्या, पण्डित जी तो ठीक कहते हैं, बिल्ली अभी दान दे दी जाय और पाठ फिर हो जाय।

रामू की माँ ने कहा—तो पण्डित जी, कितने तोले की बिल्ली बनवाई जाय?

पण्डित परमसुख मुस्कराये, अपनी तोंद पर हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा— बिल्ली कितने तोले की बनवाई जाय? अरे रामू की माँ, शास्त्रों में तो लिखा है कि बिल्ली के वजन भर सोने की बिल्ली बनवाई जाय। लेकिन अब कलियुग आ गया है, धर्म-कर्म का नाश हो गया है, श्रद्धा नहीं रही। सो रामू की माँ, बिल्ली के तौल भर की बिल्ली तो क्या बनेगी, क्योंकि बिल्ली बीस एक्कीस सेर से कम की क्या होगी; हाँ, कम से कम एक्कीस तोले की बिल्ली बनवा के दान करवा दो, और आगे तो अपनी-अपनी श्रद्धा!

रामू की माँ ने आँखें फाड़ कर पण्डित परमसुख को देखा—अरे बाप रे! एक्कीस तोला सोना! पण्डित जी यह तो बहुत है, तोला भर की बिल्ली से काम निकलेगा?

पण्डित परमसुख हँस पड़े—रामू की माँ ! एक तोला सोने की बिल्ली ! अरे रुपये का लोभ बहू से बढ़ गया ? बहू के सिर बड़ा पाप है— इसमें इतना लोभ ठीक नहीं !

मोल-तोल शुरू हुआ और मामला ग्यारह तोले की बिल्ली पर ठीक हो गया।

इसके बाद पूजा-पाठ की बात आई। पण्डित परमसुख ने कहा—उसमें क्या मुश्किल है, हम लोग किस दिन के लिए हैं। रामू की माँ, मैं पाठ कर दिया करूँगा। पूजा की सामग्री आप हमारे घर भिजवा देना।

'पूजा का सामना कितना लगेगा ?''

'अरे कम-से-कम सामान में हम पूजा कर देंगे, दान के लिए करीब दस मन गेहूँ, एक मन चावल, एक मन दाल, मन भर तिल, पाँच मन जौ और पाँच मन चना; चार पसेरी घी और मन भर नमक भी लगेगा। बस इतने से काम चल जायगा।'

'अरे बाप रे ! इतना सामान, पण्डित जी इसमें तो सौ-डेढ़ सौ रुपया खर्च हो जायगा।'—रामू की माँ ने रुआसी होकर कहा।

'फिर इससे कम में तो काम न चलेगा। बिल्ली की हत्या कितना बड़ा पाप है रामू की माँ ! खर्च को देखते वक्त पहिले बहू के पाप को तो देख लो ! यह तो प्रायश्चित्त है, कोई हँसी खेल थोड़े ही है—और जैसी जिसकी मरजादा प्रायश्चित्त में उसे वैसा खर्च करना भी पड़ता है। आप लोग कोई ऐसे-वैसे थोड़े हैं, अरे सौ-डेढ़ सौ रुपया आप लोगों के हाथ का मैल है।'

पण्डित परमसुख की बात से पंच प्रभावित हुए, किसनू की माँ ने कहा—पण्डित जी ठीक तो कहते हैं, बिल्ली की हत्या कोई ऐसा-वैसा पाप तो है नहीं—बड़े पाप के लिए बड़ा खर्च भी चाहिए।

छन्नू की दादी ने कहा—और नहीं तो क्या, दान-पुन्न से ही पाप कटते हैं। दान-पुन्न में किफायत ठीक नहीं।

मिसरानी ने कहा—और फिर माँ जी, आप लोग बड़े आदमी ठहरे। इतना खर्च कौन आप लोगों को अखरेगा।

रामू की माँ ने अपने चारों ओर देखा—सभी पंच पण्डित जी के साथ। पण्डित परमसुख मुसकरा रहे थे। उन्होंने कहा—रामू की माँ, एक तरफ तो

बहू के लिए कुम्भीपाक नरक है और दूसरी तरफ तुम्हारे जिम्मे थोड़ा-सा खर्चा है। सो उससे मुँह न मोड़ो।

एक ठंडी साँस लेते हुए रामू की माँ ने कहा, अब तो जो नाच नचाओगे, नाचना ही पड़ेगा।

पण्डित परमसुख जरा कुछ बिगड़ कर बोले—रामू की माँ! यह तो खुशी की बात है, अगर तुम्हें यह अखरता है तो न करो—मैं चला। इतना कहकर पण्डित जी ने पोथी-पत्रा बटोरा।

'अरे पण्डित जी, रामू की माँ को कुछ नहीं अखरता—बेचारी को कितना दुःख है—बिगड़ो न।'—मिसरानी, छन्नू की दादी और किसनू की माँ ने एक स्वर में कहा।

रामू की माँ ने पण्डित जी के पैर पकड़े—और पण्डित जी ने अब जमकर आसन जमाया।

'और क्या हो?''

'एक्कीस दिन के पाठ के एक्कीस रुपये और एक्कीस दिन तक दोनों बखत पाँच-पाँच ब्राह्मणों को भोजन करवाना पड़ेगा।'-- कुछ रुककर पण्डित परमसुख ने कहा—सो इसकी चिन्ता न करो, मैं अकेले दोनों समय भोजन कर लूंगा और मेरे अकेले भोजन करने से पाँच ब्राह्मण के भोजन का फल मिल जायगा।

'यह तो पण्डित जी ठीक कहते हैं, पण्डित जी की तोंद तो देखो—'मिस-रानी ने मुसकराते हुए पण्डित जी पर व्यंग किया।

'अच्छा तो फिर प्रायश्चित्त का प्रबन्ध करवाओ रामू की माँ, ग्यारह तोला सोना निकालो, मैं उसकी बिल्ली बनवा लाऊँ—दो घण्टे में मैं बनवाकर लौटूंगा तब तक सब पूजा का प्रबन्ध कर रखो—और देखो, पूजा के लिए—'

पण्डित जी की बात खतम भी न हुई थी कि महरी हाँफती हुई कमरे में घुस आई, और सब लोग चौंक उठे। रामू की माँ ने घबड़ाकर कहा—अरी क्या हुआ री?

महरी ने लड़खड़ाते स्वर में कहा—माँ जी, बिल्ली तो उठकर भाग गई!

चीनी भाई

[सुश्री महादेवी वर्मा]

मुझे चीनियों में पहचान कर स्मरण रखने योग्य विभिन्नता कम मिलती है। कुछ समतल मुख एक ही साँचे में ढले-से जान पड़ते हैं और उनकी एकरसता दूर करने वाली, वस्त्र पर पड़ी हुई सिकुड़न जैसी नाक की गठन में भी विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ तिरछी, अधखुली और विरल भूरी बरुनियों वाली आँखों की तरल रेखाकृति देखकर भ्रांति होती है कि वे सब एक नाप के अनुसार किसी तेज धार से चीर कर बनाई गई हैं। स्वाभाविक पीतवर्ण धूप के चरण-चिह्नों पर पड़े हुए धूल के आवरण के कारण कुछ ललछौंहें सूखे पत्ते की समानता पा लेता है। आकार-प्रकार, वेश-भूषा सब मिलकर इन दूर-देशियों को यन्त्रचालित पुतलों की भूमिका दे देते हैं, इसी से अनेक बार देखने पर भी एक फेरीवाले चीनी को दूसरे से भिन्न करके पहचानना कठिन है।

पर आज मुखों की एक रूप समष्टि में मुझे एक मुख आर्द्र नीलिमामयी आँखों के साथ स्मरण आता है जिसकी मौन भंगिमा कहती है—हम कार्बन की कापियाँ नहीं हैं। हमारी भी एक कथा है। यदि जीवन की वर्णमाला के सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें निरक्षर नहीं तो तुम पढ़कर देखो न।

कई वर्ष पहले की बात है। मैं ताँगे से उतर कर भीतर आ रही थी और भूरे कपड़े का गट्ठर बायें कन्धे के सहारे पीठ पर लटकाये हुए और दाहिने हाथ में लोहे का गज घुमाता हुआ चीनी फेरीवाला फाटक से बाहर निकल रहा था। सम्भवतः मेरे घर को बन्द पाकर वह लौटा जा रहा था। 'कुछ लेगा मेम साब'—दुर्भाग्य का मारा चीनी। उसे क्या पता कि यह सम्बोधन मेरे मन में रोष की सबसे तुंग तरंग उठा देता है। मइया, माता, जीजी, दिदिया, बिटिया आदि न जाने कितने सम्बोधनों से मेरा परिचय है और सब मुझे प्रिय हैं, पर

यह विजातीय सम्बोधन मानो सारा परिचय छीनकर मुझे गाउन में खड़ा कर देता है। इस सम्बोधन के उपरान्त मेरे पास से निराश होकर न औटना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

मैंने अवज्ञा से उत्तर दिया 'मैं विदेशी—फॉरेन—नहीं खरीदती।' 'हम फॉरेन है ? हम तो चाइना से आता हैं' कहने वाले के कण्ठ में सरल विस्मय के साथ उपेक्षा की चोट से उत्पन्न चोट भी थी। इस बार रुककर, उत्तर देने वाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुए किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुए हैट से आधा माथा ढंके, दाढ़ी-मूंछ विहीन, दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है। उसे सबसे अलग करके देखने का प्रश्न जीवन में पहली बार उठा।

मेरी उपेक्षा से उस विदेशीय को चोट पहुँची यह सोच कर मैंने अपनी 'नहीं' को और अधिक कोमल बनाने का प्रयास किया 'मुझे कुछ नहीं चाहिए भाई !' चीनी भी विचित्र निकला 'हमको भाय बोला है तब जरूल लेगा, जरूल लेगा—हाँ ?' होम करते हाथ जला वाली कहावत हो गई—विवश कहना पड़ा 'देखूं तुम्हारे पास है क्या ?' चीनी बरामदे में कपड़े का गट्ठर उतारता हुआ कह चला 'भोत अच्छा सिल्क लाता है सिस्तर ! चाइना सिल्क, क्रेप,...बहुत कहने-सुनने के उपरान्त दो मेजपोश खरीदना आवश्यक हो गया। सोचा—चलो छुट्टी हुई। इतनी कम बिक्री होने के कारण चीनी अब कभी इस ओर आने की भूल न करेगा।

पर कोई पन्द्रह दिन बाद वह बरामदे में अपनी गठरी पर बैठकर गज को फर्श पर बजा-बजाकर गुनगुनाता हुआ मिला। मैंने उसे कुछ बोलने का अवसर न देकर व्यस्त भाव से कहा—'अब तो मैं कुछ न लूंगी। समझे ?' चीनी खड़ा होकर जेब से कुछ निकालता हुआ प्रफुल्ल मुद्रा से बोला 'सिस्तर का वास्ते हैं की लाता है—भोत बेस्त, सब सेल हो गया। हम इसको पाकेत में छिपा के लाता है।'

देखा कुछ रूमाल थे। ऊदी रंग के डोरे से भरे हुए किनारों का हर घुमाव और कोनों में उसी रंग से बने नन्हें फूलों की प्रत्येक पंखुड़ी चीनी नारी की कोमल उँगलियों की कलात्मकता ही नहीं व्यक्त कर रही थी जीवन के अभाव

की करुण कहानी भी कह रही थी। मेरे मुख के निषेधात्मक भाव को लक्ष्य कर अपनी नीली रेखाकृति आँखों को जल्दी-जल्दी बन्द करते और खोलते हुए वह एक साँस में 'सिस्तर का वास्ते लाता है, सिस्तर का वास्ते लाता है', दोहराने-तिहराने लगा।

मन में सोचा अच्छा भाई मिला है। बचपन में मुझे लोग चीनी कह कर चिढ़ाया करते थे। सन्देह होने लगा उस चिढ़ाने में कोई तत्त्व भी रहा होगा। अन्यथा आज यह सचमुच का चीनी, सारे इलाहाबाद को छोड़कर मुझसे बहिन का सम्बन्ध क्यों जोड़ने आता! पर उस दिन से चीनी को मेरे यहाँ जब-तब आने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया। चीन का साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी कला के सम्बन्ध में विशेष अभिरुचि रखता है इसका पता भी उसी चीनी की परिष्कृत रुचि में मिला।

नीली दीवार पर किस रंग के चित्र सुन्दर जान पड़ते हैं, हरे कुशन पर किस प्रकार के पक्षी अच्छे लगते हैं, सफेद पर्दे के कोनों में किस बनावट के फूल-पत्ते खिलेंगे आदि के विषय में चीनी उतनी ही जानकारी रखता था जितनी किसी अच्छे कलाकार में मिलेगी। रंग से उसका अति परिचय यह विश्वास उत्पन्न कर देता था कि वह आँखों पर पट्टी बाँध देने पर भी केवल स्पर्श से रंग पहचान लेगा।

चीन के वस्त्र, चीन के चित्र आदि की रंगमयता देखकर भ्रम होने लगता है कि वहाँ की मिट्टी का हर कण भी इन्हीं रंगों से रंगा हुआ न हो। चीन देखने की इच्छा प्रकट करते ही 'सिस्तर का वास्ते हम चलेगा।' कहते-कहते चीनी की आँखों की नीली रेखा प्रसन्नता से उजली हो उठती थी।

अपनी कथा सुनाने के लिए भी वह विशेष उत्सुक रहा करता था पर कहने-सुनने वाले के बीच की खाई बहुत गहरी थी। उसे चीनी और बर्मी भाषाएँ आती थीं जिनके सम्बन्ध में अपनी सारी विद्या-बुद्धि के साथ मैं 'आँखों के अन्धे नाम नैनसुख' की कहावत चरितार्थ करती थी। अंग्रेजी के क्रियाहीन संज्ञाएँ और हिन्दुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के सम्मिश्रण से जो विचित्र भाषा बनती थी उसमें कथा का सारा मर्म बँध नहीं पाता था। पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर, दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं, वे प्रायः करुण होती हैं और करुण की भाषा शब्दहीन रह कर भी बोलने में समर्थ है। चीनी फेरीवाले की कथा भी इसका अपवाद नहीं।

जब उसके माता-पिता ने माँडले आकर चाय की छोटी दुकान खोली तब उसका जन्म नहीं हुआ था। उसे जन्म देकर और सात वर्ष की बहिन के संरक्षण में छोड़कर जो परलोक सिधारी उस अनदेखी माँ के प्रति चीनी की श्रद्धा अटूट थी।

सम्भवतः माँ ही ऐसा प्राणी है जिसे कभी न देख पाने पर भी मनुष्य ऐसे स्मरण करता है जैसे उसके सम्बन्ध में कुछ जानना बाकी नहीं। यह स्वाभाविक भी है।

मनुष्य को संसार से बाँधनेवाला विधाता माँ ही है, इसी से उसे न मानकर संसार को न मानना सहज है पर संसार को मान कर उसे न मानना असम्भव ही रहता है।

पिता ने जब दूसरी वर्मी चीनी स्त्री को गृहिणी-पद पर अभिषिक्त किया तब उन मातृहीनों को यातना की कठोर कहानी आरम्भ हुई। दुर्भाग्य इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सका क्योंकि उसके पाँचवें वर्ष में पैर रखते-न-रखते एक दुर्घटना में पिता ने भी प्राण खोये।

अन्य अबोध बालकों के समान उसने सहज ही अपनी परिस्थितियों से सम-समझौता कर लिया, पर बहिन और विमाता में किसी प्रस्ताव को लेकर जो वैमनस्य बढ़ रहा था वह इस समझौते को उत्तरोत्तर विषाक्त बनाने लगा। किशोरी बालिका की अवज्ञा का बदला उसी को नहीं, उसके अबोध भाई को कष्ट देकर भी चुकाया जाता था। अनेक बार उसने ठिठुरती हुई बहिन की कम्पित उँगलियों में अपना हाथ रख, उसके मलिन वस्त्रों में अपना आँसुओं से धुला मुख छिपा और उसकी छोटी-सी गोद में सिमट कर भूख भुलाई थी। कितनी ही बार सबेरे, आँख मूँदकर बन्द द्वार के बाहर दीवार से टिकी हुई बहिन की ओर से गीले बालों में, अपनी ठिठुरी हुई उँगलियों को गर्म करने का व्यर्थ प्रयास करते हुए, उसने पिता के पास जाने का रास्ता पूछा था। उत्तर में बहिन के फीके गाल पर चुपचाप ढुलक आनेवाले आँसू को बड़ी बूंद देखकर वह घबराकर बोल उठा था—उसे कहवा नहीं चाहिए वह तो पिता को देखना भर चाहता था।

कई बार पड़ोसियों के यहाँ रकाबियाँ धोकर और काम के बदले भात माँगकर बहिन ने भाई को खिलाया था।

व्यथा की कौन-सी अन्तिम मात्रा ने बहिन के नन्हें हृदय का बाँध तोड़

डाला इसे अबोध बालक क्या जाने। पर एक रात उसने बिछौने पर लेट कर बहिन की प्रतीक्षा करते-करते आधी आँख खोली और विमाता को कुशल बाजीगर की तरह मैली-कुचैली बहिन का कायापलट करते देखा। उसके सूखे होंठों पर विमाता की मोटी उँगली ने दौड़-दौड़कर लाली फेरी, उसके फीके गालों पर चौड़ी हथेली ने घूम-घूमकर सफेद गुलाबी रंग भरा, उसके रूखे बालों को कठोर हाथों ने घेर-घेर कर सँवारा और तब नये रंगीन वस्त्रों में सजी हुई उस मूर्ति को एक प्रकार से ठेलती हुई विमाता रात के अन्धकार में बाहर अन्तर्हित हो गई!

बालक का विस्मय भय में बदल गया और भय ने रोने में शरण पाई—कब वह रोते-रोते सो गया इसका पता नहीं, पर जब वह किसी के स्पर्श से जागा तो बहिन उस गठरी बने हुए भाई के मस्तक पर मुख रखकर सिसकियाँ रोक रही थी। उस दिन उसे अच्छा भोजन मिला, दूसरे दिन कपड़े, तीसरे दिन खिलौने—पर बहिन के दिनों-दिन विवर्ण होने वाले ओठों पर अधिक गहरे रंग की आवश्यकता पड़ने लगी, उसके उत्तरोत्तर फीके पड़ने वाले गालों पर देर तक पाउडर मला जाने लगा।

बहिन के छीजते शरीर और घटती शक्ति का अनुभव बालक करता था, पर वह किससे कहे, क्या करे, यह उसकी समझ के बाहर की बात थी। बार-बार सोचता था कि पिता का पता मिल जाता तो सब ठीक हो जाता। उसके स्मृति-पट पर माँ की कोई रेखा नहीं, परन्तु पिता का जो अस्पष्ट चित्र अंकित था उससे उनके स्नेहशील होने में सन्देह नहीं रह जाता। प्रतिदिन निश्चय करता कि दूकान में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति से पिता का पता पूछेगा और एक दिन चुपचाप उनके पास पहुँच और उसी तरह चुपचाप उन्हें घर लाकर खड़ा कर देगा—तब यह विमाता कितनी डर जायगी और बहिन कितनी प्रसन्न होगी!

चाय की दूकान का मालिक अब दूसरा था, परन्तु पुराने मालिक के पुत्र के साथ उसके व्यवहार में सहृदयता कम नहीं रही, इसी से बालक एक कोने में सिकुड़ कर खड़ा हो गया और आनेवालों से हकला-हकला कर पिता का पता पूछने लगा। कुछ ने उसे आश्चर्य से देखा, कुछ मुस्करा दिये, पर दो-एक ने दूकानदार से कुछ ऐसी बात कही जिससे वह बालक को हाथ पकड़कर बाहर ही नहीं छोड़ आया, इस भूल की पुनरावृत्ति होने पर विमाता से दण्ड दिलाने की धमकी भी दे गया। इस प्रकार उसकी खोज का अन्त हुआ।

बहिन का सन्ध्या होते ही कायापलट, फिर उसका आधी रात बीत जाने पर भारी पैरों से लौटना, विशाल शरीरवाली विमाता की जंगली बिल्ली की तरह हल्के पैरों से बिछौने से उछल कर उतर आना, बहिन के शिथिल हाथों से बटुये का छिन जाना और उसका भाई के मस्तक पर मुख रखकर स्तब्ध भाव से पड़ रहना आदि क्रम ज्यों-के-त्यों चलते रहे।

पर एक दिन बहिन लौटी ही नहीं। सवेरे विमाता को कुछ चिन्तित-भाव से उसे खोजते देख बालक सहसा किसी अज्ञात भय से सिहर उठा। बहिन—उसकी एकमात्र आधार बहिन। पिता का पता न पा सका और बहिन भी खो गई। वह जैसा था वैसा ही बहिन को खोजने के लिए गली-गली में मारा-मारा फिरने लगा। रात में वह जिस रूप में परिवर्तित हो जाती थी उसमें दिन को उसे पहचान सकना कठिन था, इसी से वह जिसे अच्छे कपड़े पहने हुए जाता देखता उसी के पास पहुँचने के लिए सड़क के एक ओर से दूसरी ओर दौड़ पड़ता। कभी किसी से टकरा कर गिरते-गिरते बचता, कभी किसी से गाली खाता, कभी कोई दया से प्रश्न कर बैठता—क्या इतना जरा-सा लड़का भी पागल हो गया है?

इसी प्रकार भटकता हुआ वह गिरहकटों के गिरोह के हाथ लगा और तब उसकी दूसरी शिक्षा आरम्भ हुई। जैसे लोग कुत्ते को दो पैरों से बैठना, गर्दन ऊँची कर खड़ा होना, मुँह पर पंजे रखकर सलाम करना आदि करतब सिखाते हैं उसी प्रकार वे सब उसे तम्बाकू के धुएँ और दुर्गन्धित साँस से भरे और फटे चिथड़े, टूटे बरतन और मैले शरीरों से बसे हुए कमरे में बन्द कर कुछ विशेष संकेतों और हँसने-रोने के अभिनय में पारंगत बनाने लगे।

कुत्ते के पिल्ले के समान ही वह घुटनों के बल खड़ा रहता और हँसने-रोने की विविध मुद्राओं का अभ्यास करता। हँसी का स्रोत इस प्रकार सूख चुका था कि अभिनय में भी वह बार-बार भूल करता और मार खाता। पर क्रन्दन उसके भीतर इतना अधिक उमड़ा रहता था कि जरा मुँह बनाते ही दोनों आँखों से दो गोल-गोल बूंदें नाक के दोनों ओर निकल आतीं और पतली समानान्तर रेखा बनाती और मुँह के दोनों सिरों को छूती हुई ठुड्ढी के नीचे तक चूली जातीं। इसे अपनी दुर्लभ शिक्षा का फल समझ कर, रोओं से काले उदर पर पीला-सा रंग बांधनेवाला उसका शिक्षक प्रसन्नता से उछलकर उसे एक लात जमा कर पुरस्कार देता।

वह दल बर्मी, चीनी, स्यामी आदि का सम्मिश्रण था इसी से 'चोरों की बारात में अपनी-अपनी होशियारी' के सिद्धान्त का पालन बड़ी सतर्कता से हुआ करता। जो उस पर कृपा रखते थे उनके विरोधियों का सन्देहपात्र होकर पिटना भी उसका परम कर्त्तव्य हो जाता था। किसी की कोई वस्तु खोते ही उस पर सन्देह की ऐसी दृष्टि आरम्भ होती कि बिना चुराये ही वह चोर के समान काँपने लगता और तब उस 'चोर के घर छिछोर' की जो मरम्मत होती थी उसका स्मरण करके चीनी की आँखें आज भी व्यथा और अपमान से धक-धक जलने लगती थीं।

सबके खाने के पात्र में बचा उच्छिष्ट एक तामचीनी के टेढ़े-मेढ़े बरतन में, सिगार से जगह-जगह जले हुए कागज से ढँक कर रख दिया जाता था जिसे वह हरी आँखों वाली काली बिल्ली के साथ मिलकर खाता था।

बहुत रात गये तक उसके नरक के साथी एक-एक करके आते रहते और अँगीठी के पास सिकुड़ कर लेटे हुए बालक को ठुकराते हुए निकल जाते। उनके पैरों की आहट को पढ़ने का उसे अच्छा अभ्यास हो चला था। जो हल्के पैरों को जल्दी-जल्दी रखता हुआ आता है उसे बहुत कुछ मिल गया है, जो शिथिल पैरों को घसीटता हुआ लौटता है वह खाली है, जो दीवार को टटोलता हुआ लड़खड़ाते पैरों से बढ़ता है वह शराब में सब खोकर बेसुध आया है, जो देहली से ठोकर खाकर धम-धम पैर रखता हुआ घुसता है उसने किसी से झगड़ा मोल ले लिया है, आदि का ज्ञान उसे अनजान में ही प्राप्त हो गया था।

यदि दीक्षान्त संस्कार के उपरान्त विद्या के उपयोग का श्रीगणेश होते ही उसकी भेंट पिता के परिचित एक चीनी व्यापारी से न हो जाती तो इस साधना से प्राप्त विद्वत्ता का क्या अन्त होता, यह बताना कठिन है। पर संयोग ने उसके जीवन की दिशा को इस प्रकार बदल दिया कि वह कपड़े की दूकान पर व्यापारी की विद्या सीखने लगा।

प्रशंसा के पुल बाँधते-बाँधते वर्षों पुराना कपड़ा सबसे पहले उठा लाना, गज से इस तरह नापना कि जो बराबर भी आगे न बढ़े चाहे अंगुल भर पीछे रह जाय, रुपये से लेकर पाई तक को खूब देख-भाल कर लेना और लौटते समय पुराने खोटे पैसे विशेष रूप से खनका-खनका कर दे डालना आदि का ज्ञान कम रहस्यमय नहीं था। पर मालिक के साथ भोजन मिलने के कारण बिल्ली के संग उच्छिष्ट सहभोज की आवश्यकता नहीं रही और दूकान में सोने की व्यवस्था

होने से अँगीठी के पास ठोकरों से पुरस्कृत होने की विवशता जाती रही। चीनी छोटी अवस्था में ही समझ गया था कि धन-संचय से सम्बन्ध रखनेवाली सभी विद्याएँ एक-सी हैं, पर मनुष्य किसी का प्रयोग प्रतिष्ठापूर्वक कर सकता है और किसी का छिपा कर।

कुछ अधिक समझदार होने पर उसने अपनी अभागी वहिन को ढूँढ़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसका पता न पा सका। ऐसी बालिकाओं का जीवन खतरे से खाली नहीं रहता। कभी वे मूल्य देकर खरीदी जाती हैं और कभी विना मूल्य के गायब कर दी जाती हैं। कभी वे निराश होकर आत्महत्या कर लेती हैं और कभी शराबी ही नशे में उन्हें जीवन से मुक्त कर देते हैं। उस रहस्य की सूत्रधारिणी विमाता भी सम्भवतः पुनर्विवाह कर किसी और को सुखी बनाने के लिए कहीं दूर चली गई थी। इस प्रकार उस दिशा में खोज का मार्ग ही बन्द हो गया।

इसी बीच में मालिक के काम से चीनी रंगून आया, फिर दो वर्ष कलकत्ते में रहा और तब अन्य साथियों के साथ उसे इस ओर आने का आदेश मिला। यहाँ शहर में एक चीनी जूते वाले के घर ठहरा है और सवेरे आठ से बारह और दो से छः बजे तक फेरी लगाकर कपड़े वेचता रहता है।

चीनी की दो इच्छायें हैं, ईमानदार बनने की और वहिन को ढूंढ़ लेने की—जिन में से एक की पूर्ति तो स्वयं उसी के हाथ में है और दूसरी के लिए वह प्रतिदिन भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है।

बीच-बीच में वह महीनों के लिए वाहर चला जाता था पर लौटते ही 'सिस्तर का वास्ते ई लाता है' कहता हुआ कुछ लेकर उपस्थित हो जाता। इस प्रकार उसे देखते-देखते मैं इतनी अभ्यस्त हो चुकी थी कि जब एक दिन वह 'सिस्तर का वास्ते' कह कर और शब्दों की खोज करने लगा तब मैं उसकी कठिनाई न समझकर हँस पड़ी। धीरे-धीरे पता चला—बुलावा आया है, वह लड़ने के लिये चाइना जायगा। इतनी जल्दी कपड़े कहाँ वेचे और न वेचने पर मालिक को हानि पहुँचा कर वेईमान कैसे बने! यदि मैं उसे आवश्यक रुपया देकर सब कपड़े ले लूँ तो वह मालिक का हिसाब चुकता कर तुरन्त देश की ओर चल दे।

किसी दिन पिता का पता पूछने जाकर वह हकलाया था—आज भी संकोच से हकला रहा था। मैंने सोचने का अवकाश पाने के लिये प्रश्न किया—'तुम्हारे

तो कोई है ही नहीं फिर बुलवा किसने भेजा ?' चीनी की आँखें विस्मय से भर कर पूरी खुल गईं —'हम कब बोला हमारा चाइना नहीं है ? हम कब ऐसा बोला सिस्तर ?' मुझे स्वयं अपने प्रश्न पर लज्जा आई; उसका इतना बड़ा चीन रहते वह अकेला कैसे होगा !

मेरे पास रुपया रहना ही कठिन है, अधिक रुपये की चर्चा ही क्या पर कुछ अपने पास खोज-ढूंढ़ कर और कुछ दूसरों से उधार लेकर मैंने चीनी के जाने का प्रबन्ध किया। मुझे अन्तिम अभिवादन कर जब वह चञ्चल पैरों से जाने लगा तब मैंने पुकार कर कहा 'यह गज तो लेते जाओ'—चीनी सहज स्मित के साथ घूमकर 'सिस्तर के वास्ते' ही कह सका। शेष शब्द उसके हकलाने में खो गये।

और आज कई वर्ष हो चुके हैं—चीनी को फिर देखने की सम्भावना नहीं, उसकी वहिन से मेरा कोई परिचय नहीं, पर न जाने क्यों वे दोनों भाई-बहिन मेरे लिये स्मृति-पट से हटते ही नहीं।

चीनी की गठरी में से कई थान मैं अपने ग्रामीण बालकों के कुरते बना-बना कर खर्च कर चुकी हूँ, परन्तु अब भी तीन थान मेरी आल्मारी में रखे हैं और लोहे का गज दीवार के कोने में खड़ा है। एक बार जब इन थानों को देखकर खादी-भक्त बहिन ने आक्षेप किया था 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं वे भी विदेशी रेशम के थान खरीदकर रखते हैं, इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती' तब मैं बड़े कष्ट से हँसी रोक सकी थी।

वह जन्म का दुखियारा मातृ-पितृहीन और बहिन से बिछुड़ा हुआ चीनी भाई अपने समस्त स्नेह के एकमात्र आधार चीन में पहुँचने का आत्मतोष पा गया है, इसका कोई प्रमाण नहीं—पर मेरा मन यही कहता है।

———

अपना-अपना भाग्य

[श्री जैनेन्द्रकुमार]

१

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकने पर हम सड़क के किनारे की एक बेंच पर बैठ गये।

नैनीताल की संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुई के रेशे-से, भाप-से बादल हमारे सिरों को छू-छू कर बेरोक घूम रहे थे। हल्के प्रकाश और अँधियारी से रँग कर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर देर में अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अँगरेजों का एक प्रमोद-गृह था, जहाँ सुहावना, रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्व में था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

ताल में किश्तियाँ अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अँगरेज यात्रियों को लेकर, इधर-से-उधर और उधर-से-इधर खेल रही थीं। कहीं कुछ अँगरेज एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर, अपनी सुई-सी शक्ल की डोंगियों को, मानो शर्त बाँध कर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारे पर कुछ साहब अपनी बंसी डाले, सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉन में बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हाकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेल का ही अंश था। इस तमाम खेल को उतने क्षणों का उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगा कर मानो खतम कर देना चाहते थे। उन्हें आगे की चिन्ता न थी, बीते का खयाल न था। वे शुद्ध तत्काल के प्राणी थे। वे शब्द की सम्पूर्ण सचाई के साथ जीवित थे।

सड़क पर से नर-नारियों का अविरल प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था, न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था, और कहाँ से आ रहा था, कौन बता सकता है? उस उम्र के, सब तरह के लोग उसमें थे। मानो मनुष्यता के नमूनों का बाजार सज कर सामने से इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्व में तने अँगरेज उसमें थे और चिथड़ों से सजे घोड़ों की बाग थामे, वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कुचल कर शून्य बना लिया है और जो बड़ी तत्परता से दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँगरेज बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े, पिता की उँगली पकड़ कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज पिता थे, जो अपने बच्चों के साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गी को अपने चारों तरफ लपेटे धन-सम्पन्नता के लक्षणों का प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँगरेज-रमणियाँ थीं; जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज चलती थीं। उन्हें न चलने में थकावट आती थी, न हँसने में मौत आती थी। कसरत के नाम पर घोड़े पर भी बैठ सकती थीं, और घोड़े के साथ-ही-साथ, जरा जी होते ही, किसी-किसी हिन्दुस्तानी पर कोड़े भी फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन चार-चार की टोलियों में निःशंक, निरापद इस प्रवाह में मानो अपने स्थान को जानती हुई, सड़क पर से चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारत की कुल-लक्ष्मी; सड़क के बिल्कुल किनारे दामन बचाती और सम्हालती हुई, साड़ी की कई तहों में सिमट-सिमट कर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमा के आदर्श को अपने परिवेष्टनों में छिपा कर सहमी-सहमी धरती में आँख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थी।

इसके साथ ही भारतीयता का एक और नमूना था। अपने कालेपन को खुरच-खुरच कर बहा देने की इच्छा करने वाले अंग्रेजी-दाँ पुरुषोत्तम भी थे, जो नेटिवों को देखकर मुँह फेर लेते थे और अँग्रेज को देखकर आँखे बिछा देते थे और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़ कर चलते थे—मानो भारतभूमि को इसी अकड़ के साथ कुचल-कुचल कर चलने का उन्हें अधिकार मिला है।

२

घण्टे-के-घण्टे सरक गये। अन्धकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गये। मनुष्यों का वह ताँता एक-एक कर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़क पर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहीं के वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवर कोट भीग गये थे।

पीछे फिर कर देखा। वह लाल बर्फ की चादर की तरह बिलकुल स्तब्ध और सुन्ना पड़ा था।

सब सन्नाटा था। तल्लीताल की बिजली की रोशनियाँ दीपमालिका-सी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले हुए प्रकृति के जल-दर्पण पर प्रतिबिम्बित हो रही थी और दर्पण का काँपता हुआ, लहरें लेता हुआ, वह जल प्रतिबिम्बों को सौगुना, हजार गुना करके, उनके प्रकाश को मानो एकत्र और पुंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ों के सिर पर की रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सब को ढँक दिया। रोशनियाँ मानो मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत से पहाड़ भी इस सफेद पर्दे के पीछे छिप गये। पास की वस्तु भी न दीखने लगी। मानो यह घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी गहरी सफेदी में दब गया। एक शुभ्र महासागर ने फैल कर संसृति के सारे अस्तित्व को डुबो दिया। ऊपर नीचे, चारों तरफ, वह निर्भेद्य, सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हम ने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिलकुल निर्जन-चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलों में जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्य में कहीं से, ग्यारह बार टन-टन हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्र में से आवाज आ रही हो।

हम अपने-अपने होटलों के लिए चल दिये।

३

रास्ते में दो मित्रों का होटल मिला। दोनों वकील-मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

ताल के किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गये थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवा के कण-कण में

बारिश भी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोट पर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्ते में ताल के बिलकुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जी में बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँच कर इन भीगे कपड़ों से छुट्टी पा, गरम बिस्तर में छिप कर सो रहना चाहता था; पर साथ के मित्र की सनक कब उठेगी, कब थमेगी—इसका पता न था। और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अन्दाज न था। उन्होंने कहा—आओ, जरा यहाँ बैठें।

हम उस चूते कुहरे में रात के ठीक एक बजे तालाब के किनारे उस भीगी बर्फ-सी ठंडी हो रही लोहे की बेंच पर बैठ गये।

५-१०-१५ मिनट हो गये। मित्र के उठने का इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिसिया कर कहा—

"चलिए भी"

"अरे ज़रा बैठो भी"

हाथ पकड़ कर जरा बैठने के लिए जब इस जोर से बैठा लिया गया तो और चारा न रहा—लाचार बैठ रहना पड़ा। सनक से छुटकारा आसान न था, और यह जरा बैठना जरा न था, बहुत था।

चुपचाप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

"देखो···वह क्या है ?"

मैंने देखा—कुहरे की सफेदी में कुछ ही हाथ दूर से एक काली-सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—"होगा कोई।"

तीन गज की दूरी से देख पड़ा, एक लड़का सिर के बड़े-बड़े बालों को खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली-सी कमीज लटकाये है। पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे हैं, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है ? उसके कदमों में जैसे कोई न अगला है, न पिछला है; न दायाँ है, न बायाँ है।

पास की चुंगी की लालटैन के छोटे-से प्रकाश-वृत्त में देखा—कोई दस बरस का होगा। गोरे रंग का है, पर मैल से काला पड़ गया है। आँखें अच्छी बड़ी, पर रूखी हैं। माथा जैसे अभी से झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचे की

धरती, न ऊपर चारों तरफ फैला हुआ कुहरा, न सामने का तालाब और न बाकी दुनिया। वह बस अपने वर्तमान को देख रहा था।

मित्र ने आवाज दी—"ए !"

उसने जैसे जाग कर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है रे ?"

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

"दुनियाँ सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है ?"

बालक मौन मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था ?"

"दूकान पर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं ?"

"नौकरी से हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी ?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना !"

"फिर नौकरी करेगा ?"

"हाँ।"

"बाहर चलेगा ?"

"हाँ।"

"आज क्या खाना खाया ?"

"कुछ नहीं।"

"अब खाना मिलेगा ?"

"नहीं मिलेगा।"

"यों ही सो जायगा ?"

"हाँ।"

"कहाँ ?"

"यहीं, कहीं।

"इन्हीं कपड़ों से ?"

बालक फिर आँखों से बोल कर मूक खड़ा रहा। आँखें मानो बोलती थीं—"यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न!"

"माँ बाप हैं?"

"हैं।"

"कहाँ?"

"१५ कोस दूर गाँव में।"

"तू भाग आया?"

"हाँ!"

"क्यों।"

मेरे कई छोटे भाई-बहिन हैं—सो भाग आया, वहाँ काम नहीं, रोटी नहीं। बाप भूखा रहता था, और मारता था। माँ भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँव का। मुझसे बड़ा था। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।

"कहाँ गया?"

"मर गया।"

"मर गया?"

"हाँ, साहब ने मारा, मर गया।"

"अच्छा, हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौट कर हम वकील-दोस्तों के होटल में पहुँचे।

"वकील साहब!"

वकील लोग, होटल के ऊपर के कमरे से उतर कर आये। कश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोजे चढ़े पैरों में चप्पल थीं। स्वर में हलकी-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

"आ-हा फिर आप!—कहिए।"

"आप को नौकर की जरूरत थी न?—देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँ से ले आये?—इसे आप जानते हैं?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी, ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चे में गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहीं से—लो जी, यह नौकर लो।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी.........जी, बस खूब हैं। ऐरे-गैरे को नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं मैं क्या करूँ ?"

"मानें क्या, खाक ?—आप भी...जी अच्छा मजाक करते हैं।...अच्छा अब हम सोने जाते हैं।"

और वह चार रुपये रोज के किरायेवाले कमरे में सजी मसहरी पर सोने झटपट चले गये।

४

वकील साहब के चले जाने पर, होटल के बाहर आ कर मित्र ने अपनी जेब में हाथ डाल कर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराश भाव से हाथ बाहर कर मेरी ओर देखने लगे।

"क्या है ?"

"इसे खाने के लिए कुछ—देना चाहता था," अँगरेजी में मित्र ने कहा—"मगर, दस-दस के नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं, देखूँ ?"

सचमुच मेरे पाकिट में भी नोट ही थे। हम फिर अँगरेजी में बोलने लगे। लड़के के दाँत बीच-बीच में कटकटा उठते थे। कड़ाके की सर्दी थी।

मित्र ने पूछा—"तब ?"

मैंने कहा—"दस का नोट ही दे दो।" सकपका कर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—"अरे यार ! बजट बिगड़ जायगा। हृदय में जितनी दया है, पास में उतने पैसे तो नहीं हैं।"

"तो जाने दो, यह दया ही इस जमाने में बहुत है।"—मैंने कहा।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़के से बोले—"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल डि पब, जानता है ? वहीं कल १० बजे मिलेगा ?"

"हाँ..., कुछ काम देंगे, हजूर ?"

"हाँ-हाँ," ढूँढ़ दूँगा।"

"तो जाऊँ ?"

"हाँ," ठंडी साँस खींच कर मित्र ने कहा—"कहाँ सोयेगा ?"

"यहीं कहीं; बेंच पर, पेड़ के नीचे किसी दूकान की भट्ठी में।"

बालक फिर उसी प्रेत-गति से एक ओर बढ़ा और कुहरे में मिल गया। हम भी होटल की ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटों को पार कर बदन में तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते हुए मित्र ने कहा "भयानक शीत है। उसके पास। कम—बहुत कम कपड़े……!"

"यह संसार है यार!"—मैंने स्वार्थ की फिलासफी सुनाई—"चलो, पहले बिस्तर में गर्म हो लो, फिर किसी और की चिन्ता करना।"

उदास हो कर मित्र ने कहा—"स्वार्थ!—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो, या बेहयाई!"

× × ×

दूसरे दिन नैनीताल—स्वर्ग के किसी काले गुलाम पशु के दुलारे का वह बेटा—वह बालक, निश्चित समय पर हमारे 'होटल डि-पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताल-सैर खुशी-खुशी खतम कर चलने को हुए। उस लड़के की आस लगाते बैठे रहने की जरूरत हमने न समझी।

मोटर में सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला कि पिछली रात, एक पहाड़ी बालक सड़क के किनारे, पेड़ के नीचे, ठिठुर कर मर गया!

मरने के लिए उसे वही जगह, वही दस बरस की उम्र और वही काले चिथड़ों की कमीज मिली। आदमियों की दुनिया ने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बतानेवालों ने बताया कि गरीब के मुँह पर, छाती, मुट्ठी और पैरों पर बरफ की हलकी-सी चादर चिपक गई थी। मानों दुनिया की बेहयाई ढँकने के लिए प्रकृति ने शव के लिए सफेद और ठण्डे कफन का प्रबन्ध कर दिया था।

सब सुना और सोचा—अपना-अपना भाग्य!

——

एक सप्ताह

[चन्द्रगुप्त विद्यालंकार]

गुलमर्ग
१३ श्रावण...

प्यारे कमल,

मुझे माफ करना, उस दिन शाम की चाय के समय तुम मेरा इन्तजार करते रहे होगे, और मैं इधर खिसक आया। आज तुमसे ११०० मील की दूरी पर और तुम्हारे कलकत्ता महानगर से ६००० फीट अधिक ऊँचाई पर बैठकर मैं तुम्हें यह पत्र लिख रहा हूँ। तुम जानते ही हो कि मैं किस तबीयत का आदमी हूँ। उफ, वहाँ कितना बोझ था। काम, काम, हर वक्त काम। मेरी तबीयत सहसा ऊब गई और तुम्हें तक सूचना दिये बिना मैं अपनी कार पर इतने लम्बे सफर के लिए खिसक आया। उस दिन चाय के वक्त मुझे मौजूद न पाकर यद्यपि तुम मुझ पर काफी खिज तो लिये ही होगे, फिर भी उस असुविधा के लिए मुझे माफ कर देना।

हिमालय की यह विशाल घाटी बड़ी सुहावनी है। घने जंगल, निर्मल झरने, विस्तृत मैदान, चारों ओर बरफ से ढँकी पहाड़ों की ऊँची-ऊँची चोटियाँ और दूर पर दिखाई देनेवाली वलर झील। इस स्थान से मैं सचमुच प्यार करता हूँ। यहाँ एक सप्ताह बिलकुल निकम्मा रह कर काटूँगा। कुछ नहीं करूँगा। केवल तुम्हें ही पत्र लिखूँगा और तुम्हारे पत्रों को छोड़कर और कुछ भी नहीं पढ़ूँगा।

भाई कमल, मैं अकेला हूँ। तुमने अनेक बार मेरे इस अकेलेपन की आलोचना की है; मगर यहाँ आकर मैं अनुभव करता हूँ कि जैसे प्रकृति मेरी माँ है। मैं अकेला कहाँ हूँ, मैं तो अपनी माँ की गोद में हूँ।

चिन्ता न करना। मैं यहाँ एक सप्ताह से अधिक नहीं ठहरूँगा। २२ श्रावण

की शाम को तुम मुझे अपनी चाय की टेबिल पर ही पाओगे ।

बाहर एक कसा हुआ घोड़ा मेरा इन्तजार कर रहा है, अतः बाकी कल ।

तुम्हारा—
स०

२

गुलमर्ग
१४ श्रावण...

भाई कमल,

सुबह ६ बजे विस्तरे से उठा हूँ । अभी नींद की खुमारी नहीं टूटी । कल बहुत दिनों के बाद घुड़सवारी की थी, अतः टाँगें कुछ थक गई-सी प्रतीत होती हैं । आज कहीं नहीं जाऊँगा । मेरे मकान में और कोई नहीं है । मैं अपने सोफे पर अकेला पड़ा हूँ । बाहर धीमी-धीमी वर्षा हो रही है ।— चारों तरफ सन्नाटा है । ओह, सामने की इस खिड़की से कितना अनन्त सौन्दर्य मुझे दिखाई दे रहा है ।

आज कुछ नहीं लिखूंगा । सोचा था कि आज एक चित्र बनाऊँगा; मगर कुछ नहीं करूंगा । घंटों तक इसी तरह निश्चेष्ट भाव से पड़े रह कर, इस खिड़की की राह से प्रकृति का, अपनी माँ का अनूठा सौन्दर्य देखूंगा ।

अच्छा, कल तक के लिए बिदा ।

स्वेच्छाधीन—
स०

३

गुलमर्ग
१५ श्रावण...

कमल,

इस समय रात के ११॥ बजे हैं, और मेरी आँखों में नींद नहीं है । सब तरफ गहरा सन्नाटा है । कहीं से कोई आवाज नहीं आ रही । मेरे कमरे में बिजली की बत्ती जल रही है । खिड़कियाँ बन्द हैं । सरदी इतनी अधिक है कि मैं उन्हें खोल कर नहीं रख सका । सन्नाटा इतना गहरा है कि बिजली के प्रकाश से जगमगा रहे इस कमरे में बैठकर मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, जैसे इस सम्पूर्ण विश्व में केवल मैं-ही-मैं बच रहा हूँ, और कोई भी नहीं है । कहीं कोई भी नहीं है । सिर्फ मैं ही हूँ; अकेला मैं ।

मगर भाई कमल, आज सहसा, न जाने क्यों, मुझे अपना यह अकेलापन कुछ अनुभव-सा होने लगा है। ऐसा क्यों हुआ? क्या सिर्फ इसलिए कि सब ओर सन्नाटा है और मेरी आँखों में नींद नहीं है? नहीं कमल, यह बात नहीं है। मेरे हृदय में आज सहसा एक नई-सी अनुभूति उठ खड़ी हुई है, जो बिलकुल धुँधली और अस्पष्ट-सी है। मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने आज जो कुछ देखा है, उसमें विचित्रता जरा भी नहीं है। मैंने जो कुछ आज देखा है, उसे यदि मैं यहाँ लिखूँगा, तो या तो तुम मेरा मजाक उड़ाने लगोगे, अथवा मेरे सम्बन्ध में बिलकुल भ्रान्त-सी धारणा बना लोगे। मगर भाई, मैं कहता हूँ, मैं तुमसे अनुरोध करता हूँ कि तुम इन दोनों में से एक भी बात न करना। मेरी इस चिट्ठी को पढ़ जाना, और अगर हो सके तो उसी वक्त भुला देना। बस, और कुछ नहीं।

हाँ, तो सुनो। बात है तो कुछ भी नहीं, मगर फिर भी सुनो। आज दोपहर के वक्त बादल जरा छँट गये थे, और सूरज निकल आया था। जैसे विधाता ने इस हरी-भरी घाटी को धो-धाकर धूप में सुखाने के लिए बिछा दिया हो। दोपहर के भोजन के बाद मैं अपनी इस छोटी-सी कोठी के खुले सहन में धीरे-धीरे चहलकदमी करने लगा। सहन के फाटक के सामने ही स्वच्छ जल का एक छोटा-सा झरना बह रहा है। उसके ऊपर अनघड़ लकड़ी का एक इतना सुन्दर पुल है कि उसे देखते ही कलर-बक्स लेकर उसका चित्र बनाने की इच्छा होती है। मैं धीरे-धीरे एक बार इस पुल तक जाता था, और उसके बाद कोठी के बरामदे तक वापस लौट आता था।

एक बार के चक्कर में जब मैं पुल के निकट पहुँचा, तो मैं चौंक पड़ा। मैंने देखा, वहाँ किसी भद्र कुल की एक नौजवान लड़की खड़ी थी। अकेली। उसका ध्यान मेरी ओर नहीं था। झरने के पानी की मधुर ध्वनि ने मेरे चलने की आवाज को अपने भीतर छिपा लिया था, इससे मेरे बहुत निकट पहुँच जाने पर भी वह यह न जान सकी कि उसके निकट कोई अन्य व्यक्ति भी मौजूद है। और मुझे तो तुम जानते ही हो। कितना भूला हुआ-सा चलता हूँ। मुझे तब तक उस लड़की की उपस्थिति का ज्ञान नहीं हुआ, जब तक मैं उसके बिलकुल निकट पहुँच नहीं गया।

मैं चौंका, और उधर उसी समय उस लड़की की निगाह मुझ पर पड़ी। शायद बिलकुल ही अकस्मात्। वह भी चौंक गई। क्षण-भर के लिए सहसा उसकी और मेरी आँखें आपस में मिल गईं।

बस, भाई कमल, बात इतनी ही है, और कुछ भी नहीं। मैं उसी क्षण वापस लौट पड़ा था, और जान पड़ता है, वह लड़की भी वहाँ से चल दी थी; मगर इस जरा-सी बात ने न जाने क्यों मेरे दिल पर बहुत अजीब-सा प्रभाव डाला है। इस बात को हुए अब ६ घंटे बीत चुके हैं, और इन ६ घंटों में चौंकी हुई हरिणी की-सी वे आँखें मेरे मानसिक नेत्रों के सामने बीसियों बार घूम गई हैं।

तुम सोचते होगे, इस सब में कोई खास बात जरूर है। और नहीं तो कम-से-कम वह लड़की कोई असाधारण सुन्दरी तो अवश्य ही होगी; मगर वास्तविकता यह नहीं है। उस लड़की के चेहरे में असाधारणता जरा भी नहीं थी। लम्बा कद, मामूली चेहरा, गेहुँआँ रंग। और भी कोई बात उसमें ऐसी नहीं थी, जिसे असाधारण कहा जा सके। अपने नगर में हम लोग इस कन्या से अत्यधिक रूप-सौन्दर्यवाली बीसियों युवतियों को रोज देखते हैं। मेरी परिचित कुमारियों में भी कितनी ही सौन्दर्य की दृष्टि से उससे कहीं बढ़-चढ़ कर हैं। यहाँ गुलमर्ग में भी उससे बहुत अधिक सुन्दरियों को मैंने काफी बड़ी संख्या में देखा है। फिर भी ! कुछ समझ में नहीं आता कि इस 'फिर भी' का कारण क्या है।

आज इतना ही।

तुम्हारा—
स०

४

गुलमर्ग
१६ श्रावण...
प्रातः ८ बजे

कमल,

नींद से उठते ही सबसे पहले मेरी निगाह रात के पत्र पर गई है। रात मैं क्या खुराफात-सी लिख गया। दिल में आता है, वह पत्र फाड़ डालूँ।

जी कुछ भारी-सा है। कुछ लिखने की भी इच्छा नहीं होती और इस तरह निश्चेष्ट भाव से यहाँ चुपचाप पड़े रहना तो आज मुझे सह्य भी नहीं हो सकता। तुम जानते हो, ऊपर की दो लाइने लिखने में मैंने कितना समय लगाया है? पूरे २२ मिनट। इस समय दूसरा पत्र लिख सकना मेरे लिए असम्भव है। चलो, अब कहीं अवारागर्दी करने जाऊँगा।

सायं० ६ बजे ।

मेरा जी इस समय बहुत प्रसन्न है। मेरी टाँगें, मेरा सम्पूर्ण शरीर बिल्कुल थकी हुई हालत में हैं; परन्तु जी चाहता है कि मैं इस समय भी नाचूँ, कूदूँ और इधर-उधर दौड़ता फिरूँ। मेरे हृदय में इस समय उत्साह का अन्धड़-सा चल रहा है, मुझे मालूम है कि उसकी प्रतिक्रिया भी जरूर होगी। अपने जी के इस व्यर्थ उत्साह को बहकाने का मुझे इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं मिला कि सुबह का पत्र पूरा करने बैठ जाऊँ।

साँझ हो आई है। आज का सारा दिन मैंने सैर-सपाटे में काटा है। थोड़ी देर पहले घर वापस आया हूँ। तुम्हारी चिट्ठी बीच में छोड़कर मैं एक मजबूत घोड़े पर सैर के लिए निकल गया था। यहाँ के सभी मार्ग मेरे जाने-पहचाने हैं, इससे कोई मार्ग-दर्शक भी मैंने अपने साथ नहीं लिया था। मेरे निवास स्थान से करीब ८ मील की दूरी पर एक बड़ा पहाड़ी झरना है। इस झरने को यहाँ 'निगली नाला' कहते हैं। मैं आज इसी निगली नाले तक गया था।

खूब टेढ़ी-मेढ़ी राह है। कहीं पहाड़ों के चक्कर हैं, कहीं घास से मढ़े मैदान, कहीं ऊँचाई-निचाई, कहीं पेचदार मोड़ और कहीं घने जंगल। रास्ता क्या है, ऊबड़-खाबड़-सी एक पगदंडी है! इस रास्ते पर मैंने अपना घोड़ा खूब निश्चिन्तता के साथ दौड़ाया। ऊपर असंख्य पक्षियों का मधुर कलरव था। राह के दोनों ओर फूल पत्तियाँ थीं। हवा में सुगन्ध थी। आसमान में सूरज बादलों के साथ आँखमिचौनी खेल रहा था। कभी सरदी बढ़ जाती थी और कभी हल्की-हल्की घाम निकल आती थी। शीघ्र ही मैं निगली नाले पर जा पहुँचा। झरने के दोनों ओर घना जंगल है। बीच में बड़ी-बड़ी चट्टानें पड़ी हैं। एक-एक चट्टान सैकड़ों-हजारों टन की होगी। झरने का स्वच्छ जल इन भीमकाय चट्टानों से टकराकर शोर मचाता है, फिसलता है और फिर उछल-उछलकर इन्हें गीला करता है। झरने की शीतलता, झाग, सफेदी और शोर—ये सब निरन्तर बने रहते हैं। सदा ताजे सदैव उत्साहपूर्ण।

घोड़े को घास चरने के लिए खुला छोड़ कर मैं दो-तीन घंटों तक झरने की चट्टानों पर स्वच्छन्दतापूर्वक कूदता-फाँदता रहा। अपने कैमरे से इस झरने के मैंने अनेक फोटो भी लिये। खाया, पीया और उसके बाद वापस लौट चला।

वापसी में मैंने अपने घोड़े को सरपट नहीं दौड़ाया। राह के दृश्यों ने मेरा सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था; अतः घोड़े पर मैंने किसी

तरह का शासन नहीं किया। वह आजादी के साथ, चाहे जिस चाल से, चलता रहा। सहसा सामने की ओर से मुझे एक चीख-सी सुनाई दी। मेरी तन्मयता भंग हो गई। मैंने देखा, सामने के मैदान में एक घोड़ा बेतहाशा दौड़ा चला जा रहा है, और उस पर एक स्त्री सवार है। घोड़े की जीन को, लेटी हुई-सी दशा में कस कर पकड़े हुए वह नारी सहायता के लिए भरसक चिल्ला रही थी। उसी निगाह में मुझे यह भी दिखाई दिया कि पगदंडी पर तीन-चार अन्य घुड़सवार भी मौजूद हैं। सब-की-सब लड़कियाँ ही। वे सब असमर्थों का-सा भाव धारण किये अपने कश्मीरी कुलियों को वह घोड़ा पकड़ने का आदेश दे रही थीं।

एक ही क्षण में मैंने अपना घोडा उसी ओर दौड़ा दिया और शीघ्र ही उस स्त्री-सवार के निकट जा पहुँचा। अपने घोड़े पर से कूद कर मैंने उस घोड़े की लगाम पकड़ ली।

फिर वही आँखें!

मैं सहसा घबरा-सा गया। मुझे यह भी नहीं सूझा कि मैं क्या कह कर उस कन्या को आश्वासन दूँ। मगर मेरी घबराहट की ओर उसका ध्यान नहीं गया। वह स्वयं ही बहुत अधिक संकटापन्न दशा में जो थी।

पहले उसी ने मुझे धन्यवाद दिया। मालूम होता है, उसने मुझे पहचाना नहीं। धन्यवाद देकर उसने शीघ्रता से कहा—बड़ा नटखट घोड़ा है! मैं पहले ही कह रही थी कि मैं इस पर सवार न होऊँगी।

उसकी आवाज में अभी तक भय की कँपकँपी थी। मैंने कहा—आपने बड़ी हिम्मत दिखाई है। घोड़े की चाल इतनी तेज हो जाने पर भी आप गिरी नहीं।

वह इस पर लजा-सी गई। उसने कहा—मैं घुड़सवारी तो क्या जानूँ। सुना था, इधर के घोड़े बड़े सीधे होते हैं।

इसी समय उसके साथ की अन्य सभी लड़कियाँ और घोड़े वाले कुली भी वहाँ आ पहुँचे। घोड़े की लगाम अभी तक मेरे हाथों में थी, और लड़की भी अभी तक घोड़े की पीठ पर ही थी। एक कश्मीरी ने लगाम अपने हाथों में थाम ली और दूसरे ने जीन को सम्भाला। वह लड़की नीचे उतर आई। उसके साथ की सब लड़कियों ने मुझे धन्यवाद दिया, और मैंने कहा कि इसमें धन्यवाद की बात ही क्या है।

उन्होंने मुझसे पूछा—आप किस जगह ठहरे हुए हैं?

मैंने अपना पता बता दिया।

मेरे निवास-स्थान का पता सुन कर जैसे उस लड़की ने मुझे पहचान लिया। उसके मुँह से हठात् निकला—ओ हो! परन्तु उसी क्षण अपने को पूर्णतः संयत करके उसने बड़ी शान्ति के साथ कहा—मैं समझ गई।

इसके बाद दो-चार मामूली-सी और बातें भी हुईं, और तब वे लोग निगली नाले की ओर बढ़ गये। जाते हुए वे कल प्रातः के लिए मुझे अपने यहाँ चाय के लिए निमन्त्रित भी करते गये।

उस नटखट घोड़े की रास अब एक कश्मीरी के हाथ में थी। वे सब घोड़े अब बहुत धीमी चाल से जा रहे थे, और वह घोड़ा सबसे पीछे कर दिया गया था। मेरी नजर अभी तक उसी ओर थी कि कुछ ही दूर जाकर उस लड़की ने पीछे की ओर घूम कर देखा।

अचानक एक बार पुनः मेरी और उसकी नजर मिल गई।

ओह, फिर वही निष्पाप, लज्जाभरी, स्वच्छ आँखें!

भाई कमल, मुझे नहीं मालूम कि वे लड़कियाँ कौन हैं। सभी नवयुवतियाँ हैं। मेरा अनुमान है कि उनमें से अभी तक किसी का विवाह नहीं हुआ। मैं उनमें से किसी का नाम भी नहीं जानता, मकान का पता देने के लिए केवल एक पुरुष का नाम ही उन्होंने मुझे बताया है। मैं यह भी नहीं जानता कि वे आपस में बहनें हैं, सहेलियाँ हैं, एक साथ पढ़नेवाली हैं, या रिश्तेदार हैं। मुझे कुछ भी नहीं मालूम। परन्तु एक बात मैंने अच्छी तरह देख ली। वह यह कि उस लड़की के गेहुएँ चेहरे में असाधारणता जरा भी नहीं है। उसकी आँखों में, उसकी पलकों या भौंहों में ऐसी कोई बात नहीं है, जिसके सम्बन्ध में कवि लोग बड़ी-बड़ी उपमाएँ खोज-खोज कर दिया करते हैं। फिर भी उसकी निगाह में कुछ है। क्या है—यह मैं नहीं कह सकता; मगर कुछ है जरूर।"

बाहर अँधेरा हो गया है। सरदी भी अब अनुभव होने लगी है, अतः प्रणाम।

अभिन्न—

स०

५

गुलमर्ग

१७ श्रावण

प्यारे कमल,

आज जाकर मुझे तुम्हारा पहला पत्र मिला है। तुम रंच मानो, गुलमर्ग

के छोटे-से बाजार के साइनबोर्डों के अतिरिक्त यही एक पहली चीज है, जिसे मैंने इन पाँच-छै दिनों में पढ़ा है।

मेरा आज का दिन भी बड़े आनन्द से गुजरा है। सुबह-सुबह मैं उन लोगों के यहाँ चाय पीने गया था। उसके बाद हम लोग एक साथ खिलनमर्ग की सैर के लिए निकल गये। वहाँ घंटों तक उस खुले मैदान में बैठ कर ताश खेला किये। सैर की, खेले-कूदे और फिर वापस लौट आये। सब लोग मेरे निवास-स्थान पर आये। शाम की चाय यहाँ ही हुई, और अभी-अभी मैं उन्हें उनके घर तक छोड़ कर आ रहा हूँ।

मुझे उनका परिचय भी मिल गया है। वह लड़की अपने भाई और एक चचेरी बहन के साथ, काफी दिन हुए, यहाँ आई थी। उसके पिता एक सम्पन्न व्यापारी हैं, उनका कारोबार खूब चलता हुआ है। वह लड़की लाहौर के एक महिला-कालेज में पढ़ती है, और बाकी तीनों लड़कियाँ उसके क्लास की हैं, उसकी मित्र हैं और उसी के निमन्त्रण पर यहाँ आई हैं। उसके भाई का स्वभाव भी बड़ा मधुर है। गुलमर्ग में उसके दोस्तों की इतनी अधिकता है कि उनकी ओर से छुटकारा पा सकना ही उसके लिए कठिन हो जाता है। हम लोग आपस में खूब हिलमिल गये हैं। मैंने उन लोगों के अनेक फोटो भी लिये हैं।

आज जल्दी ही सो जाने को जी चाहता है। तुम्हारा पत्र इस समय मेरी आँखों के सामने नहीं है। कुछ याद नहीं आ रहा कि तुमने उसमें कोई बात पूछी भी थी या नहीं? चलो, जाने दो। यह तो मुझे मालूम ही है कि तुम कोई खास काम की बात तो पूछ ही नहीं सकते।

यह भी नामुमकिन नहीं कि मैं यहाँ कुछ दिन और ठहर जाऊँ।

स्नेही—
स०

६

गुलमर्ग
१८ श्रावण...

कमल,

साँझ डूबने को है। दिन-भर से आसमान में बादल छाये हुए थे। इस समय मूसलाधार वर्षा हो रही है। मेरे कमरे की सब खिड़कियाँ बन्द हैं। कमरे में बत्ती जल रही है। मेरे कानों में एक संगीत गूंज रहा है—बहुत करुण, बहुत

पवित्र और वहुत ही मधुर। इस संगीत में शब्द नहीं, केवल स्वर है। स्वर भी क्या, केवल गूँज है! छत की टीन पर वर्षा पड़ने की जो यकसाँ आवाज हो रही है, वह इस गूँजमय संगीत का साज है और ठंडी, गीली हवा की धू-धू इस संगीत की तान का काम कर रही है।

मैं अकेला हूँ। दिन भर अकेला नहीं था; परन्तु इस समय फिर से अकेला ही हूँ। वह अपने भाई और छोटी वहन को साथ लेकर यहाँ आई थी। ३ बजे के करीव उसके भाई चाय के एक निमन्त्रण पर वाहर चले गये। वह और उसकी वहन यहाँ ही रह गईं। कलवाले फोटोग्राफ धुल कर आ गये थे। उन फोटोज की आलोचना-प्रत्यालोचना होती रही। और भी बीसियों तरह की बातें हुईं। शाम का अँधेरा जब बढ़ने लगा, तो मैंने उससे अनुरोध किया कि वह कोई गाना सुनाये। बड़ी झिझक के वाद उसने एक गाना मुझे सुनाया। ओह, वह कितना मधुर गाती है। मैं किसी दूसरे लोक में जा पहुँचा। मुझे नहीं मालूम कि संगीत कब समाप्त हुआ। हाँ, उसके भाई साहव का आना मुझे जरूर याद है। देर हो गई थी, अतः वे लोग लौटने को हुए। मैंने उन लोगों को सहन के फाटक से ही विदा दे दी। उन्हें छोड़ने के लिए दूर तक केवल इसीलिए साथ नहीं गया, क्योंकि मुझे ज्ञात था कि उसके भाई साहव चुपचाप चलना पसन्द नहीं करेंगे, और इस समय मैं न कुछ सुनना चाहता था, न वोलना चाहता था।

उन्हें गये थोड़ी ही देर हुई थी कि जोर की वर्षा शुरू हो गई। मैं तब से इसी कमरे में वैठा हूँ। संगीत कभी का थम गया, गानेवाली भी चली गई; मगर इसकी गूँज अभी तक वाकी है—उसी तरह जीवित रूप में वाकी है। संगीत की यह अनिर्वचनीय अमूर्त्त गूँज वर्षा की आवाज का प्राकृतिक साज पा कर मानो और भी अधिक भेदिनी वन गई है।

कमल, तुम मेरे सुख-दुख के साथी हो। अपनी सभी अनुभूतियाँ तुमसे कह कर मैं अपने चित्त का वोझ हलका किया करता हूँ; मगर यह एक अनुभूति कुछ ऐसी है कि इसे मैं ठीक तौर से व्यक्त भी नहीं कर सकता। मेरे जी में आँधी-सी चल रही है; मगर यह आँधी विल्कुल शब्द-रोहित है, जैसे नदी का वेगवान पानी अन्दर-ही-अन्दर से किनारे के कछारों को काट रहा हो।

अपनी एक पुरानी धुँधली-सी अनुभूति मुझे इस समय साफ तौर से समझ में आ रही है। हम मनुष्यों के वाह्य-जीवन आपस में एक दूसरे पर इतने अधिक आश्रित हो गये हैं कि हम लोगों के लिए इस तरह का एक दिन भी काटना

सम्भव नहीं रहा, जब कि एक मनुष्य का किसी भी दूसरे मनुष्य से किसी तरह का वास्ता न पड़े। इस पर भी मैं सदैव अनुभव करता रहा हूँ कि हम लोग आपस में एक दूसरे से बहुत अधिक दूर हैं। हृदयों का यह पारस्परिक अपरिचितपन हमारे दैनिक व्यवहार में; हमारे सामान्य जीवन में कोई बाधा नहीं डालता। फिर भी हमारे जी को, हमारे अन्तःकरण को और शायद हमारी अन्तरात्मा को भी यह चाह रहती है कि वह किसी दूसरे जी को, किसी दूसरे अन्तःकरण को अपना ले। यही चीज, अन्तरात्मा की यही चाह, प्रेम है, जिसे वासना का परिधान पहना कर हम लोग बहुत शीघ्र मैला कर डालते हैं। आज इस संगीत-मय, ठंडे, शान्त और सुन्दरतम वातावरण में मैं यह अनुभव करने लगा हूँ कि मेरे अन्तःकरण में भी इसी तरह की कोई बेचैनी सहसा उठ खड़ी हुई है।

आज उससे मेरी खूब बातें हुईं। अधिकांश बातें बिलकुल बेमतलब की थीं। मगर फिर भी वे बातें अत्यन्त मधुर और दिल को सहलानेवाली थीं।

एक बात ऐसी भी हुई, जिसने मेरे हृदय को वेग के साथ झनझना दिया। बातचीत में उसने जरा हैरानी के साथ मुझसे पूछा—आप अकेले ही रहते हैं?

मैंने कहा—हाँ।

मैंने पूछा—हमेशा इसी तरह रहते हैं?

मैंने कहा—प्रायः हमेशा ही।

कुछ क्षण के बाद उसने मुझसे पूछा—सुबह आपको दूध पिलाने का काम किसके हाथों में है?

मुझे उसका भोला-सा सवाल मधुर जान पड़ा। मैंने कहा—जो लोग मेरी जरूरत की और सब चीजों का इन्तजाम करते हैं, वे ही दूध का भी इन्तजाम करते हैं।

उसने फिर पूछा—'आप सुबह खाते क्या हैं?'

मैंने कहा—दूध, टोस्ट, मक्खन, शहद, ओवलटीन और थोड़े से मेवे।

यों ही बिलकुल निष्कलंक भाव से उसने जरा आग्रह के स्वर से कहा—अगर मैं आपके दूध का इन्तजाम करनेवाली होती, तो आपको पता लगता कि सुबह के कलेवे में कितना स्वाद आता है।

मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण झन-झना उठा। अपने चेहरे पर हल्की-सी और फीकी मुसकराहट ले आने के अतिरिक्त मैं उसकी इस अत्यन्त मधुर बात का कोई जवाब नहीं दे सका।

मुझे मालूम है कि उसने जो कुछ कहा था, इसीका कोई गहरा अभिप्राय कदापि नहीं था। सम्भवतः घर के लोगों को सुबह दूध पिलाने का इन्तजाम उसी के जिम्मे होगा; मगर फिर भी मेरे दिमाग ने उसकी इस बात को इतनी गहराई के साथ हृदय के पास पहुँचाया कि मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण बहुत ही मीठे स्वरों में ध्वनित हो उठा।

हाथ ठिठुर रहे हैं। मेरी यह चिट्ठी पढ़ कर तुम कहीं ऊबने तो नहीं लगे ? ठीक है न ? या अभी कुछ और सुनने की इच्छा है ?

मगर नहीं, अब और नहीं।

तुम्हारा—
स०

७

गुलमर्ग
१९ श्रावण…

भाई कमल,

इस समय सुबह के ८ बजे हैं। मेरा सामान बँध कर तैयार पड़ा है। सहन में एक कसा हुआ घोड़ा और सामान के टट्टू तैयार खड़े हैं। मैं इसी वक्त नीचे के लिए रवाना होने लगा हूँ। बस, तुम्हें यह पत्र लिख कर मैं घोड़े पर सवार हो जाऊँगा। यह भी पूरी तरह मुमकिन है कि इस पत्र से पहले ही मैं स्वयं तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।

कल मैंने इरादा किया था कि कम-से-कम पाँच दिन यहाँ और ठहरूँगा। उन लोगों से भी मैंने यही बात कही थी। आज दोपहर को मुझसे मिलने के लिए उन्हें यहाँ आना भी है; मगर आज सुबह नींद से बहुत जल्दी जग कर मैंने यही निश्चय किया कि मुझे यहाँ से चल ही देनी चाहिये। इस आशय की एक चिट्ठी उनके नाम पर भी डाल रहा हूँ कि एक अप्रत्याशित कार्य के लिए मुझे इस तरह, बिलकुल अचानक अपने…नगर के लिए रवाना होना पड़ रहा है।

तुम इस चिट्ठी को पा कर, अथवा चौथ मुझे ही अपने समीप देख कर, हैरान होगे कि बात क्या हो गई। कहने को तो मैं तुम्हें भी यही कह सकता हूँ कि अधिक दिन बाहर रहने से काम-काज में हर्ज होता, इसी से चले आना पड़ा; परन्तु दर-असल बात ऐसी नहीं है। बात वास्तव में इतनी ही है कि अपनी

शिक्षा और अपनी परिस्थितियों के संस्कारों से बाधित हो कर ही मैं आज यहाँ से चल दिया हूँ ।

कुछ समझे ? नहीं, मुझे यकीन है कि कमल का मोटा दिमाग मेरी इस महीन बात को जरा भी नहीं समझा होगा ।

देखो न, भाई कमल, बात यह है कि पश्चिम की शिक्षा ने, पश्चिम के रीति-रिवाजों ने, हमें यह सिखाया है कि हमें अपने दिल को, अपने अन्तःकरण को और अपने पन को बहुत महँगा बना लेना चाहिये । हम सब से मिलें-जुलें, सब से मीठी-मीठी बातें करें, सब से फायदा उठायें, इच्छा हो और सम्भव हो, तो लोगों से सभी तरह के विनोद और आमोद भी प्राप्त करें, परन्तु अपना अन्तःकरण, अपना हृदय अपने ही पास रखें, क्योंकि वह हमारी चीज है, और किसी की भी नहीं । अपने दिल को बिलकुल निस्संग बनाने की भी आवश्यकता नहीं है; वह तो आत्मविनोद का सर्वश्रेष्ठ साधन है । तुम सब से मिलो-जुलो, हँस कर, खुल कर मीठी-मीठी बातें करो; मगर किसी के बन मत जाओ; अपना सब कुछ किसी को अर्पित मत कर दो । अपने व्यक्तित्व को भावुकता की जहरीली गैस से मूर्छित न होने दो ।

मैंने यह अनुभव किया है, कमल, कि मेरे हृदय में अभी भावुकता बाकी है, वह भी काफी मात्रा में । मेरा हृदय मोह में पड़ गया है । पूरब के अशिक्षित मनुष्यों के समान वह चाहता है कि वह जिस की ओर झुका है, उसी का बन कर रहे; मगर मेरे दिमाग की शिक्षा ने मेरे जी को यह चेतावनी दी है कि प्रेम का उद्देश्य सर्वस्व समर्पण की भावना नहीं, अपितु आत्म-विनोद मात्र है । परन्तु मुझे भय है कि इस खास मामले में मैं अपने मस्तिष्क के आदेश का पालन शायद ही कर सकूँ । इससे मैंने निश्चय किया है कि मैं अपने को इस कठिन परीक्षा में न डालूँ और यहाँ से चल दूँ । देखूँ, इस सबका परिणाम क्या होता है । देखूँ, गुलमर्ग को भुला सकता हूँ या नहीं । अब तो आ ही रहा हूँ । बेफिक्र रहो । मैं नये युग की उपज हूँ ।

अभिन्न—

स०

डाची

[श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क']

काटपी[1] सिकन्दर के मुसलमान जाट बाकर को अपने माल की ओर लालसा-भरी निगाहों से ताकते देख कर चौधरी नन्दू वृक्ष की छाँह में बैठे-बैठे अपनी ऊँची घरघराती आवाज में ललकार उठा—"रे-रे अठे के करै है ?" और उसकी छः फुट लम्बी सुगठित देह, जो वृक्ष के तने के साथ आराम कर रही थी, तन गई और बटन टूटे होने के कारण मोटी खादी के कुर्ते से उसका विशाल वक्षस्थल और उसकी बलिष्ठ भुजाएँ दृष्टिगोचर हो उठीं।

बाकर तनिक समीप आ गया। गर्द से भरी हुई छोटी नुकीली दाढ़ी और शरई मूछों के ऊपर गढ़ों में धँसी हुई दो आँखों में निमित्तमात्र के लिए चमक पैदा हुई और जरा मुस्कराकर उसने कहा—"डाची देख रहा था चौधरी, कैसी खूबसूरत और जवान है, देख कर भूख मिटती है।"

अपने माल की प्रशंसा सुनकर चौधरी का तनाव कुछ कम हुआ, खुश हो कर बोला—"किसी साँड़, कौन-सी डाची ?"

"वह पहली तरफ से चौथी।" बाकर ने इशारा करते हुए कहा।

ओंकाट[2] के एक घने पेड़ की छाया में आठ-दस ऊँट बँधे थे। उन्हीं में वह जवान साँडनी अपनी लम्बी सुडौल और सुन्दर गर्दन उठाए घने पत्तों में मुँह मार रही थी, बड़े-बड़े ऊँचे ऊँटों, सुन्दर साँडनियों, काली, मोटी बेडौल भैंसों, सुन्दर नागौरी सींगोंवाले बैलों के सिवा कुछ न दिखाई देता था। गधे भी थे पर न होने के बराबर। अधिकांश तो ऊँट ही थे। बहावलनगर नगर मरुस्थल

---

१. काटपी = गाँव

२. ओंकाट = एक वृक्ष विशेष

में होनेवाली मालमण्डी में उनका आधिक्य है भी स्वाभाविक। ऊँट रेगिस्तान का जहाज है, इस रेतीले इलाके में आमद-रफ्त, खेती-वाड़ी और बारबरदारी का काम उसी से होता है। पुराने समय में जब गाय दस-दस और बैल पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में मिल जाते थे तब भी अच्छा ऊँट पचास से कम में हाथ न आता था। अब भी जब इस इलाके में नहर आ गई है और पानी की इतनी किल्लत नहीं रही, ऊँट का महत्त्व कम नहीं हुआ, बल्कि बढ़ा ही है। सवारी के ऊँट दो-दो सौ से तीन-तीन सौ तक पाये जाते हैं और वाही तथा बारबरदारी के भी अस्सी-सौ से कम में हाथ नहीं आते।

तनिक और आगे बढ़ कर बाकर ने कहा—"सच कहता हूँ, चौधरी इस जैसी सुन्दरी साँड़नी मुझे सारी मण्डी में दिखाई नहीं दी।"

हर्ष से नन्दू का सीना दुगना हो गया, बोला—"आ एक ही के, इह तो सगली फूटरी है। हूँ तो इन्हें चारा फलूँसी नीरिया करूँ।" [१]

धीरे से बाकर ने पूछा—"बेचोगे इसे?"

नन्दू ने कहा—"बेचने लई तो मण्डी माँ आऊँ हूँ।"

"तो फिर बताओ कितने की दोगे?" बाकर ने पूछा।

नन्दू ने नख से शिख तक बाकर पर एक निगाह डाली और हँसते हुए बोला—"तन्ने चाही जै का तेरे धनी वेई मोल लेसी?" [२]

"मुझे चाहिए"—बाकर ने दृढ़ता से कहा।

नन्दू ने उपेक्षा से सिर हिलाया। इस मजदूर की यह बिसात कि ऐसी सुंदर साँडनी मोल ले, बोला—"तू कि लेसी?',

बाकर की जेब में पड़े हुए डेढ़ सौ के नोट जैसे बाहर उछल पड़ने को व्यग्र हो उठे, तनिक जोश के साथ उसने कहा—"तुम्हें इससे क्या कोई ले, तुम्हें अपनी कीमत से गरज है, तुम मोल बताओ।"

नन्दू उसके जीर्ण-शीर्ण कपड़ों, घुटने से उठे हुए तहमद और जैसे नूह के वक्त से भी पुराने जूते को देखते हुए कहा—"जा-जा तू इशीविशी साँडनी खरीद ले,

---

१. यह एक ही क्या, यह तो सब ही सुन्दर हैं, मैं इन्हें चारा और फलूँसी (ज्वार और मोठ) देता हूँ।

२. तुझे चाहिए या अपने मालिक के लिए मोल ले रहा है?

इसका मूल तो १६०) से कम नहीं । टालने की गरज आई, इंगो मोल तो आठ बीसी सूँ घाट के नहीं ।"[1]

एक निमिष के लिए बाकर के थके हुए, व्यथित चेहरे पर आल्हाद की रेखा भी झलक उठी । उसे डर था कि चौधरी कहीं ऐसा मूल्य न बता दे, जो उसकी बिसात से बाहर हो, पर जब अपनी जबान से उसने १६०) बताये तो उसकी खुशी का ठिकाना न रहा । १५० रु० तो उसके पास थे ही । यदि इतने पर भी चौधरी न माना; तो दस रुपये वह उधार कर लेगा । भाव-ताव तो उसे करना आता न था; झट से उसने डेढ़ सौ के नोट निकाले और नन्दू के आगे फेंक दिये, और बोला—"गिन लो, इनसे अधिक मेरे पास नहीं, अब आगे तुम्हारी मर्जी ।" नन्दू ने अन्यमस्कता से नोट गिनने आरम्भ कर दिये, पर गिनती खत्म करते ही उसकी आँखें चमक उठीं । उसने तो बाकर को टालने के लिए ही मूल्य १६०) बता दिया था । नहीं मण्डी में अच्छी से अच्छी डाची भी डेढ़ सौ में मिल जाती है और इसके तो १४०) पाने को भी उसने स्वप्न तक में कल्पना न की थी । पर शीघ्र ही मन के भावों को मन में छिपा कर और बाकर पर अहसान का बोझ लादते हुए नन्दू बोला—"साँड तो मेरी दो सौ की है पण जा सागी मोल मियाँ तले दस छाड़ियाँ ।"[2] और यह कहते-कहते उठ कर उसने साँड़नी की रस्सी बाकर के हाथ में दे दी ।

क्षण-भर के लिए उस कठोर व्यक्ति का जी भर आया । यह साँडनी उसके यहाँ ही पैदा हुई और पली थी, आज पाल पोसकर उसे दूसरे के हाथ में सौंपते हुए उसके मन की कुछ ऐसी हालत हुई, जो लड़की को ससुराल भेजते समय पिता की होती है । जरा काँपती आवाज में, स्वर को तनिक नर्म करते हुए उसने कहा—"आ साँड सोरी रहेडी है, तूँ इन्हें रेहल में ईन गेर दई ।"[3] ऐसे ही, जैसे श्वसुर दामाद से कह रहा हो—"मेरी लड़की लाडों पली है, देखना इसे कष्ट न होने देना ।"

---

१. जा-जा तू कोई ऐसी-वैसी साँडनी खरीद ले; इसका मूल्य तो १६०) से कम नहीं । टालने की गरज से कहा ।
२. साँडनी तो मेरी २००) की है, पर जा सारी कीमत में से तुम्हें दस रुपये छोड़ दिये ।
३. यह साँडनी अच्छी तरह से रखी गई है, तू इसे यों ही मिट्टी में न रोल देना ।

आल्हाद के परों पर उड़ते हुए बाकर ने कहा—"तुम जरा भी चिन्ता न करो, जान देकर पालूँगा।"

नन्दू ने नोट अंटी में सम्भालते हुए जैसे सूखे हुए गले को जरा तर करने के के लिए घड़े में से मिट्टी का प्याला भरा—मण्डी में चारों ओर धूल उड़ रही थी। शहरों की माल-मण्डियों में भी, जहाँ बीसियों अस्थायी नलके लग जाते हैं और सारा-सारा दिन छिड़काव होता रहता है—धूल की कमी नहीं होती; फिर इस रेगिस्तान की मण्डी पर तो धूल का ही साम्राज्य था। गन्ने वाले की गडेरियों पर, हलवाई के हलवे और जलेबियों पर और खोंचे वाले के दही पकौड़ी पर, सब जगह धूल का पूर्णाधिकार था। यहाँ वह सर्वव्यापक थी, सर्वशक्तिमान थी। घड़े का पानी टाँचियों द्वारा नहर से लाया गया था, पर यहाँ आते-आते कीचड़ हो गया था! नन्दू का ख्याल था कि निथरने पर पियेगा, पर गला कुछ सूख रहा था। एक घूंट में प्याले को खत्म करके नन्दू ने बाकर से भी पानी पीने के लिए कहा। बाकर आया तो उसे गजब की प्यास लगी हुई थी; पर अब उसे पानी पीने की फुर्सत कहाँ? वह रात होने से पहले-पहले गाँव पहुँचना चाहता था। डाची की रस्सी पकड़े हुए वह धूल को जैसे चीरता हुआ चल पड़ा।

बाकर के दिल में बड़ी देर से एक सुन्दर और युवा डाची खरीदने की लालसा थी। जाति का वह कमीन था। उसके पूर्वक कुम्हारों का काम करते थे; किन्तु उसके पिता ने अपना पैतृक काम छोड़ कर मजदूरी करना ही शुरू कर दिया था और उसके बाद बाकर भी इसी से अपना और अपने छोटे से कुटुम्ब का पेट पालता आता था। वह काम अधिक करता हो, यह बात न थी; काम से उसने सदैव जी चुराया था, और चुराता भी क्यों न जब कि उसकी पत्नी उससे दुगुना काम करके उसके भार को बटाने और उसे आराम पहुँचाने के लिए मौजूद थी। कुटुम्ब बड़ा नहीं था—एक वह, एक उसकी पत्नी और नन्हीं-सी बच्ची, फिर किस लिए वह जी हल्का न करता? पर क्रूर और बेपीर विधाता—उसने उसे उस विस्मृति में, सुख की उस नींद से जगा कर अपना उत्तरदायित्व महसूस करने पर बाधित कर दिया। उसे बता दिया कि जीवन में सुख नहीं, आराम नहीं, दुःख भी है, परिश्रम भी है।

पाँच वर्ष हुए उसकी वही आराम देने वाली प्यारी पत्नी सुन्दर गुड़िया-सी लड़की को छोड़ कर परलोक सिधार गई थी। मरते समय अपनी सारी करुणा

को अपनी फीकी और श्री-हीन आँखों में बटोर कर उसने बाकर से कहा था—"मेरी रजिया अब तुम्हारे हवाले है। इसे कष्ट न होने देना।"—और उसी एक वाक्य ने बाकर के समस्त जीवन के रुख को पलट दिया था। उसकी मृत्यु के बाद ही वह अपनी विधवा बहन को उसके गाँव से ले आया था और अपने आलस्य तथा प्रमाद को छोड़ कर अपनी मृत पत्नी की अन्तिम अभिलाषा को पूरा करने में संलग्न हो गया था। यह सम्भव भी कैसे था कि अपनी पत्नी की —जिसे वह दिलोजान से प्यार करता था, जिसके निधन का गम इसके हृदय के अज्ञात पर्दों तक छा गया था; जिसके बाद उम्र होने पर भी, धर्म की आज्ञा होने पर भी, लोगों के विवश करने पर भी उसने दूसरा विवाह न किया था। अपनी इसी प्यारी पत्नी की अन्तिम अभिलाषा की अवहेलना करता ?

वह दिन-रात काम करता था ताकि अपनी मृत पत्नी की उस धरोहर को, अपनी उस नन्हीं-सी गुड़िया को, भाँति-भाँति की चीजें लाकर प्रसन्न रख सके। जब भी कभी वह मण्डी को जाता, तो नन्हीं-सी रजिया उसकी टाँगों से लिपट जाती और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें उसके गर्द से अटे हुए चेहरे पर जमा कर पूछती—"अब्बा, मेरे लिए क्या लाये हो ?" तो वह उसे अपनी गोद में ले लेता और कभी मिठाई और कभी खिलौनों से उसकी झोली भर देता। तब रजिया उसकी गोद से उतर जाती और अपनी सहेलियों को अपने खिलौने और मिठाई दिखाने के लिए भाग जाती। यही गुड़िया जब आठ साल की हुई, तो एक दिन मचलकर अपने अब्बा से कहने लगी—"अब्बा हम तो डाची लेंगे, अब्बा हमें डाची ले दो।" भोली-भाली निरीह बालिका उसे क्या मालूम कि वह एक विपन्न गरीब मजदूर की बेटी है, जिसके लिए डाची खरीदना तो दूर रहा, डाची की कल्पना करना भी गुनाह है। रूखी हँसी हँसकर बाकर ने उसे अपनी गोद में ले लिया और बोला—"रज्यो, तू तो खुद डाची है।" पर रजिया न मानी। उस दिन मशीरमाल अपनी साँडनी पर चढ़ कर अपनी छोटी लड़की को अपने आगे बिठा कर दो-चार मजदूर लेने के लिए स्वभूमि स्थिति उस काट में आये थे। तभी रजिया के नन्हे-से मन में डाची पर सवार होने की प्रबल आकांक्षा पैदा हो उठी थी, और उसी दिन से बाकर का रहा-सहा प्रमाद भी दूर हो गया था।

उसने रजिया को टाल तो दिया था, पर मन-ही-मन उसने प्रतिज्ञा कर ली कि वह अवश्य रजिया के लिए एक सुन्दर-सी डाची मोल लेगा। उसी इलाके में

जहाँ उसकी आय की औसत साल-भर में तीन आने रोजाना भी न होती थी, अब आठ-दस आने हो गई, दूर-दूर के गाँवों में अब वह मजदूरी करता। कटाई के दिनों में रात-दिन काम करता, फसल काटता, दाने निकालता, खलिहानों में अनाज भरता, नीरा डाल कर भूसे के कूप बनाता, बिजाई के दिनों में हल चलाता पैतियाँ बनाता, बीज फेंकता। इन दिनों में उसे पाँच आने से लेकर आठ आने रोजाना तक मजदूरी मिल जाती। जब कोई काम न होता तो प्रातः उठ कर आठ-आठ कोस की मंजिल मार कर मण्डी जा पहुँचता आठ-दस आने की मजूरी करके ही वापस लौटता। इन दिनों में वह रोज छः आने बचाता आ रहा था, इस नियम में उसने किसी प्रकार भी ढील न होने दी थी, उसे जैसे उन्माद-सा हो गया था। बहन कहती—"बाकर अब तो तुम बिलकुल ही बदल गये हो, पहले तो तुमने कभी ऐसी जी तोड़कर मेहनत न की थी।"

बाकर हँसता और कहता—"तुम चाहती हो मैं आयु-भर निठल्ला बैठा रहूँ।"

बहन कहती—"निठल्ला बैठने को तो मैं नहीं कहती, पर सेहत गँवा कर धन इकट्ठा करने की सलाह भी मैं नहीं दे सकती।"

ऐसे अवसर पर सदैव बाकर के सामने उसकी मृत पत्नी का चित्र खिंच जाता, उसकी अन्तिम अभिलाषा उसके कानों में गूँज जाती। वह आँगन में खेलती हुई रजिया पर एक स्नेह-भरी दृष्टि डालता और विषाद से मुस्करा कर फिर अपने काम में लग जाता, और आज डेढ़ वर्ष की कड़ी मशक्कत के बाद, वह अपनी संचित अभिलाषा को पूरा कर सका था।

उसके हाथ में साँडनी की रस्सी थी और नहर के किनारे-किनारे वह चला जा रहा था।

शाम का वक्त था, पश्चिम की ओर डूबते सूरज की किरणें धरती को सोने का अन्तिम दान कर रही थीं। वायु में ठण्डक आ गई थी और कहीं दूर खेतों में टिटीहरी 'टिहूँ-टिहूँ' कर रही थी। बाकर के मन में अतीत की सब बातें एक-एक करके आ रही थीं। इधर-उधर कभी कोई किसान अपने ऊँट पर सवार जैसे फुदकता हुआ निकल जाता था और कभी-कभी खेतों से वापिस आने वाले किसानों के लड़के घर में रखे हुए घास-पट्ठे के गट्ठों पर बैठ बैलों को पुचकारते, किसी गीत का एक-आध बन्द गाते, या छकड़े के पीछे बँधे हुए चुपचाप चले जाने वाले ऊँटों की थूथनियों से खेलते चले आते थे।

बाकर ने स्वप्न से जागते हुए पश्चिम की ओर अस्त होते हुए सूरज की ओर देखा, फिर सामने की ओर शून्य में नजर दौड़ाई—उसका गाँव अभी बड़ी दूर था। पीछे की ओर हर्ष से देखकर और मौन रूप से चली आने वाली साँडनी को प्यार से पुचकार कर वह और भी तेजी से चलने लगा—कहीं उसके पहुँचने से पहले रजिया सो न जाय।

मशीरमाल की काट नजर आने लगी। यहाँ से उसका गाँव समीप ही था। यही कोई दो कोस। बाकर की चाल धीमी हो गई और इसके साथ ही कल्पना की देवी, अपनी रंग-बिरंगी तूलिका से उसके मस्तिष्क के चित्रपट पर तरह-तरह की तसवीरें बनाने लगी। बाकर ने देखा—उसके घर पहुँचते ही नन्हीं रजिया, आह्लाद में नाच कर उसकी टाँगों से लिपट गई है और फिर डाची को देखकर उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आश्चर्य और उल्लास से भर गई हैं। फिर उसने देखा—वह रजिया को आगे बिठाये; सरकारी खाले (छोटी नहर) के किनारे-किनारे डाची पर भागा जा रहा है। शाम का वक्त है, ठंडी-ठंडी हवा चल रही है और कभी कोई पहाड़ी कौआ अपने बड़े-बड़े पैरों को फैलाए और अपनी मोटी आवाज से दो-एक बार काँव-काँव करके ऊपर उड़ कर चला जाता है। रजिया की खुशी का वार-पार नहीं है। वह जैसे हवाई जहाज में उड़ी जा रही है, फिर उसके सामने आया कि वह रजिया के लिए बहावलनगर की मंडी में खड़ा है। नन्हीं रजिया मानो भौंचक्की-सी है, हैरान और आश्चर्यान्वित-सी। कई ओर अनाज के इन बड़े-बड़े ढेरों, अनगिन छकड़ों और हैरान कर देने वाली चीजों को देख रही है। बाकर साह्लाद उसे सबकी कैफियत दे रहा है। एक दुकान पर ग्रामोफोन बजने लगता है। बाकर रजिया को वहाँ ले जाता है। लकड़ी के इस डिब्बे से किस तरह गाना निकल रहा है, कौन इसमें छिपा गा रहा है—यह सब बातें रजिया को समझ में नहीं आतीं और यह सब जानने के लिए उसके मन में जो कौतूहल है, वह उसकी आँखों से टपका पड़ता है।

वह अपनी कल्पना में मस्त कार के पास से गुजरा जा रहा था कि अचानक कुछ खयाल आ जाने से वह रुका और कार में दाखिल हुआ।

मशीरमाल की कार भी कोई बड़ा गाँव न था। इधर के सब गाँव ऐसे ही हैं। ज्यादा हुए तो तीस छप्पर हो गये। कड़ियों की छत का या पक्की ईंटों का मकान इस इलाके में अभी नहीं। खुद बाकर की कार में पन्द्रह घर थे—घर क्या सुंग़ियाँ थीं। मशीरमाल की कार में बीस-पच्चीस सुंगियों की बस्ती थी,

केवल मशीरमाल का निवास स्थान कच्ची ईंटों से बना था, पर छत उस पर भी छप्पर की ही थी। नानक तढ़ई की सुंगी के सामने वह रुका। मण्डी जाने से पहले वह यहाँ डाची का गदरा (काठी) बनने के लिए दे गया था। उसे खयाल आया कि यदि रजिया ने साँड़नी पर चढ़ने की जिद्द की तो वह उसे कैसे टाल सकेगा। इसी विचार से वह पीछे मुड़ आया था। उसने नानक को दो-एक आवाजें दीं, अन्दर से शायद उसकी पत्नी ने उत्तर दिया—'घर में नहीं हैं, मण्डी गये हैं।"

बाकर का दिल वैठ गया। वह क्या करे, यह न सोच सका, नानक यदि मण्डी गया है, तो गदरा क्या खाक बनाकर गया होगा, लेकिन फिर उसने सोचा—शायद बनाकर रख गया हो, इससे उसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने फिर पूछा—"मैं साँड़नी का पलान (गदरा) बनने के लिए दे गया था। वह बना या नहीं।"

जवाब मिला—"हमें नहीं मालूम !"

बाकर का आधा उल्लास जाता रहा। बिना गदरे के वह डाची को क्या लेकर जाय। नानक होता तो उसका गदरा चाहे न बना सही, कोई दूसरा ही उससे माँग कर ले जाता। इस खयाल के आते ही उसने सोचा चलो मशीरमाल से माँग लें। उनके तो इतने ऊँट रहते हैं, कोई-न-कोई पुराना पलान होगा ही। अभी उसी से काम चला लेंगे, तव तक नानक गदरा तैयार कर देगा। यह सोच कर वह मशीरमाल के घर की ओर चल पड़ा।

अपनी मुलाजमत के दिनों में मशीरमाल महोदय ने काफी धन उपार्जित किया था। जब इधर नहर निकली तो उन्होंने अपने असर और रसूख से रियासत की जमीन ही में कौड़ियों के मोल कई मुरब्बे जमीन ले ली थी। अब रिटायर होकर यहीं आ रहे थे। राहक (मुजोर) रखे हुए थे, आय खूब थी और मजे से वसर हो रही थी। अपनी चौपाल में एक तख्तपोश पर वैठे वे हुक्का पी रहे थे—सिर पर सफेद साफा, गले में सफेद कमीज, उस पर सफेद जाकेट और कमर में दूध-जैसे रंग का तहमद। गर्द झटकते हुए, वाकर को साँड़नी की रस्सी पकड़े आते देखकर उन्होंने पूछा—"कहो वाकर किधर से आ रहे हो ?"

वाकर ने झुककर सलाम करते हुए कहा—"मण्डी से आ रहा हूँ मालिक।"

"यह डाची किसकी है ?"

"मेरी है मालिक, अभी मण्डी से ला रहा हूँ ?"

"कितने को लाये हो ।"

बाकर ने चाहा, कह दे आठ बीसी को लाया हूँ, उसके खयाल में ऐसी सुन्दर डाची, दो सौ को भी सस्ती थी, पर मन न माना, बोला—"हजूर माँगता तो एक सौ साठ था पर सात बीसी ही में ले आया हूँ ?"

मशीरमाल ने एक नजर डाची पर डाली । वे खुद देर से एक सुन्दर-सी डाची अपनी सवारी के लिए लेना चाहते थे । उनकी डाची थी तो, पर पिछले वर्ष उसे सीमन हो गया था और यद्यपि नील इत्यादि देने से उसका रोग तो दूर हो गया था पर उसकी चाल में वह मस्ती, वह लचक न रही थी । वह उनकी नजरों में बस गई—क्या सुन्दर और सुडौल अंग है, क्या सफेदी मायल भूरा-भूरा रंग है । क्या लचलचाती लम्बी गर्दन है । बोले—"चलो हमसे आठ बीसी ले लो, हमें डाची की जरूरत है । दस तुम्हारी मेहनत के रहे ।"

बाकर ने फीकी हँसी के साथ कहा—"हजूर अभी तो मेरा चाव भी पूरा नहीं हुआ ।"

× × ×

मशीरमाल उठकर डाची की गर्दन पर हाथ फेरने लगे—वाह क्या असील जानवर है ? बोले—"चलो पाँच और ले लेना ।"

और उन्होंने आवाज दी—"नूरे ! अरे औ नूरे !"

नौकर नौहरे में बैठा भैसों के लिए पट्ठे कतर रहा था । गँड़ासा लिये ही भागा चला आया ।

मशीरमाल ने कहा—"यह डाची ले जाकर बाँध दो ! एक सौ पैंसठ रुपये में, कहो कैसी है ?"

नूरे ने हत-बुद्धि से खड़े बाकर के हाथ से रस्सी ले ली और नख से शिख तक एक नजर डाची पर डालकर बोला—"खूब जानवर है ।" और कह कर नौहरे की ओर चल पड़ा ।

तब मशीरमाल ने अंटी से साठ रुपये के नोट निकाल कर बाकर के हाथ में देते हुए मुसकरा कर कहा—"अभी एक गाहक देकर गया है; शायद तुम्हारी ही किस्मत के थे । अभी यह रखो, बाकी भी एक-दो महीने तक पहुँचा देंगे—हो सकता है तुम्हारी किस्मत से पहले ही आ जायँ ।" और बिना कोई जवाब सुने वे नौहरे की ओर चल पड़े ।

नूरा फिर चारा कतरने लगा था । दूर ही से उसे आवाज देकर उन्होंने

कहा—"भैंस का चारा रहने दो, पहले डाची के लिए गवारे को नीरा कर डालो, भूखी मालूम होती है। और पास जाकर साँड़नी की गर्दन सहलाने लगे।

कृष्ण पक्ष का चाँद अभी उदय नहीं हुआ था। विजन में चारों ओर कोहासा-सा छा रहा था। सिर पर दो-एक तारे निकल आये थे और दूर बबूल और ओंकाट के वृक्ष बड़े-बड़े काले सियाह धब्बे बन रहे थे। अपनी काट से जरा दूर फोग की एक झाड़ी के नीचे बाकर बैठा था, पशुओं के गले में बँधी हुई घंटियों की आवाज जैसे अनवरत क्रन्दन बनकर उसके कानों में आ रही थी। बाकर के हाथ में साठ रुपये के नोट बेपरवाही से लटक रहे थे और अपनी झोंपड़ी से आने वाली प्रकाश की क्षीण रेखा को निर्निमेष देखता हुआ वह इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि वह रेखा बुझ जाय, रजिया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाखिल हो।

कदाचित

[श्री नरेश मेहता]

फ्लैट के दरवाजे का हैण्डिल घुमाते समय गौरांग को आज न जाने क्यों ऐसा लगा कि हैण्डिल की धातुओं को जितना ठंडा होना चाहिए उतनी वह नहीं हैं। निश्चय ही यह उसका भ्रम था। परन्तु ऐसा क्यों लगा कि उस हैंडिल पर स्पर्श का एक बोझ था, जिसकी क्षीण गर्मी की सम्भावित गुनगुनाहट उस हैंडिल पर थी, जिसे वह चाहता, तो न केवल हथेली की पकड़ में अनुभव कर सकता था, वरन् पढ़ भी सकता था। सच तो यह है कि यह गौरांग की अतिशय मानसिकता ही थी, नहीं तो वह अपनी हथेली को देख ले कि उसकी ही नहीं, बल्कि प्रत्येक हथेली केवल लकीरों से भरी होती है। उसकी हथेली में किसी भी प्रकार के स्पर्श की कोई थरथराहट नहीं थी। लेकिन क्या सच ही अनुभव के दायरे ऐसे ही सपाट हुआ करते हैं? जबकि सच तो यह है कि ताले में ताली लगाते समय ही अज्ञात में ऐसा लगा था कि आज ताला उस तरह बंद नहीं, जिस प्रकार कि और दिनों हुआ रहता है। लेकिन और दिनों ताला क्या दूसरी तरह बन्द हुआ रहता है? किस तरह? पर इसका उत्तर तो गौरांग क्या, कोई भी नहीं दे सकता। परन्तु ऐसा लगना बहुत अप्राकृतिक भी नहीं कहा जा सकता। क्या भाषा सब कुछ अभिव्यक्त कर सकती है? ऐसा अनुभव, जिसमें घटना या व्यक्ति के स्थान पर केवल एक प्रतीत या एक सुगन्ध हो, भाषा कैसे व्यक्त करेगी?

फ्लैट के अन्दर सब कुछ शांत, प्रशांत वैसा ही था, जैसा कि किसी वस्तु-वैभव सम्पन्न फ्लैट को होना चाहिए। आजकल के फ्लैटों में व्यक्ति अव्यवस्थित रह सकते हैं, परन्तु वस्तुएं नहीं। हर चीज सुसज्जित तरीके से धुली-पुँछी चमक रही थी। परदों पर नृत्य करती नर्तकी, यथावत नृत्यरता थी। नटराज को

मूर्ति के सामने जलायी जाने वाली अगरबत्ती की राख भी रोज की ही भांति कमनीय तरीके पर इकट्ठी पड़ी थीं। कहीं किसी भी प्रकार की कोई अतिरिक्तता नहीं थी। सेंटर टेबल पर पिन-होल्डर में लगे लिली के फूल और उनकी प्रलंब डंडियाँ सारस-मिथुन का आभास देते गौरांग की ओर देखते लग रहे थे। उजालदान से संध्या-धूप जिस प्रकार प्रतिदिन परमहंस रामकृष्ण देव के चित्र पर आकर कुछ क्षण को आलोकित होती थी, आज भी वह वैसी ही थी। खिड़कियाँ बंद थीं, इससिए पूरे फ्लैट में खुलेपन की गन्ध न होकर एक ऐसी गन्ध थी, जिसे सामान्यतया घर की गंध कह दिया जाता है। वस्तुओं की गंध को घर की गंध कहा जाता है जबकि व्यक्तियों की गंध को परिवार की गंध। घर की इस गन्ध में प्रत्येक वस्तु की गन्ध तो होती ही है, साथ ही उस फ्लैट में रहने वालों की देहों की भी गंध हुआ करती है, जो कि उनके बासी कपड़ों के पीछे छूट जाती है। लेकिन इनसे भी विशेष एक और गंध होती है, जो प्राय: अत्यन्त क्षीण होती है, जो कि वहाँ रहने वालों के आपसी रिश्तों-सम्बन्धों की होती है, परन्तु लोग सामान्यत: इसके अभ्यस्त नहीं होते, क्योंकि वह उनकी अपनी ही होनी है।

गौरांग ने जैसे ही परदे और पल्ले खोले कि बाहर का दृश्य एक मीठी हँसी सा खिड़कियों की फ्रेमों में आकर जड़ उठा। प्रत्येक बाहर को लोगों के घरों के भीतर पहुँचने की कितनी उतावली रहती है न? अग्रहायण का ठंडा संध्या आकाश कितना अभूत पूर्व होता है, लगता है कि आकाश को ऐसा ही होना चाहिए। समुद्र के शोर के साथ ही लम्बे केशों वाली ठंडी समुद्री हवा ललकती हुई कमरे में पहुँच कर बच्चों सी वाचाल होने की चेष्टा करने लगी। परदों का हिलना हवा की स्वीकृति में था। खिड़कियों के ये दृश्य और हवाएँ प्रत्येक घर को बाहर के संसार से कैसे जोड़ते हैं! खिड़कियाँ खोल देने पर वस्तुओं में जो प्रकाश, चमक या आभा आ गई थी, उसमें प्रकाश के प्रति आभार तो था ही, परन्तु उसमें कहीं गौरांग के प्रति कृतज्ञता भी थी कि उसने अपनी स्थिति से उन्हें दिन भर के एकान्त से युक्त किया। वस्तुओं के स्वागत करने का ढंग ऐसा ही होता है। वे भाषा से नहीं, स्वत्व से अभ्यर्थना करती हैं। एक ठहरे हुए जलाशय में जैसे देह के साथ मन को भी ढीला छोड़ देने को जी करता है, बस ऐसी ही प्रतिक्रिया गौरांग को रोज ही होती है।

• •

याद नहीं पड़ता कि गत पाँच वर्षों में कभी चित्रा ने उसका स्वागत किया होगा। घर की वस्तुओं के द्वारा स्वागत का शायद वह अभ्यस्त हो चुका है और हो सकता है कि किसी दिन फ्लैट में वह चित्रा के द्वारा स्वागत पाये, तो उसे यह लगे कि कहीं किसी दूसरे के फ्लैट में तो नहीं आ गया है? बहुत कुछ ऐसी ही अनभिव्यक्त प्रतिक्रिया प्रत्येक दिन गौरांग की होती है। प्रत्येक दिन को हमने एक-एक तारीख देकर सिलसिलेवार संज्ञित एवं परिभाषित करके दीवार पर टाँग दिया है और वह वहाँ टँगा रहता है। क्या तारीखों का बीतना हमारे बीतने से भी कहीं जुड़ा हुआ है? वैसे बँधे-बँधाये ढंग से रोज ही घर से प्रथम जाने वाला भी वही गौरांग होता है और लौटने वाला भी। चित्रा चूँकि टी० वी० में है, इसलिए वह दिन भर आराम करने के बाद शायद चार बजे चली जाती है और रात ग्यारह के पहले लौट नहीं पाती। सोते-करते जब किसी को रात बारह बजेंगे, तो जाहिर है कि वह सवेरे जल्द कैसे जागेगा। सो, गौरांग ही सवेरे जल्द उठकर चाय-नाश्ता तैयार करता है। उसे अपने दस मील दूर के औद्योगिक प्रतिष्ठान में पहुँचने के लिये साढ़े आठ बजे की बस पकड़नी होती है। हाँ, कभी किसी दिन कुनमुनाती चित्रा को उसने बिस्तर में ही चाय दे दी, तो 'हलो' हो गया, अन्यथा चित्रा सामान्यतः गौरांग के जाने के बाद ही उठती है। फ्रिज से बासी तरकारी और ब्रेड को टिफिन में रखकर जब गौरांग जाने को होता है, तो सोती हुई चित्रा को देखकर ऐसा लगता है कि चित्रा को प्रायः वह सोते हुए ही देखता आया है। सोते हुए मुख या व्यक्तित्व के साथ सम्बन्धों की ऊष्मा क्या अनुभव की जा सकती है? जब कभी चित्रा जागी-जागी-सी होती और गौरांग के जाने की आहट होती, तो भी वह यथावत् पीठ किये केवल हाथ हिला कर ही विदा दे पाती है। पता नहीं, वह शारीरिक थकान होती, या सम्बन्ध का निरन्तर ठंडे होते जाना कि वह केवल हाथ ही हिला पाती है। उठना नहीं हो पाता। दिन, मास और वर्ष जब स्मृति हो जाते हैं और उनमें सम्बन्धों की सुगन्ध न होकर मात्र एक जीवन-क्रम की प्रतीति हो, तो कैसा रीतापन या आस्वाद का तुरापन अनुभव होने लगता है न, जैसे कि बुखार के बाद मुँह का स्वाद हो।

रोज की ही भाँति गौरांग ने चाय बनायी। गौरांग को अपने भीतर बराबर एक भाषाहीनता लगती है। जब भी वह इस भाषाहीनता को परिभाषित करने की चेष्टा करता है, तब-तब उसे लगता है कि वह और अधिक बिखर गया है।

अपने चारों और वस्तुओं की काम-काज की जो विभिन्न आवाजें होती हैं, उनके माध्यम से ही वह अपने होने को भी अनुभव कर पाया है। वे आवाजें चाहे आफिस में कालवेल की हों, या बसों के शोर की हों या घर में चमचों-प्लेटों की हों। केवल आवाजों का घेरा उसे निरन्तर घेरे हुये हैं, इसलिए वह शायद है भी। बाल्कनी में छोटी-सी गोल मेज और कुर्सी डालकर वह चाय लेकर बैठ गया। जब कभी चाय पीते कप, प्लेट से हलका टकरा जाता, तो उसे लगता कि अरे, वह अकेले बैठे चाय पी रहा है! क्या ऐसा नहीं लगता कि वह संवाद-हीन एक अलिखित नाटक की एक अप्रयुक्त पंक्ति है, जिसे काट कर विंग में फेंक दिया गया है? लेकिन शायद वह यह सब नहीं सोचता है, क्योंकि वह किसी भी प्रकार की भाषा का प्रयोग किसी के भी सन्दर्भ में नहीं करता है। कभी ऐसा नहीं हुआ होगा कि अकेले चाय पीना या घर में बराबर अकेले रहते-रहते अपने को भी एक वस्तु समझने लगा यह सब कुछ खला हो परन्तु आज यह कैसी असुविधा या आकांक्षा उसे अपने में लग रही थी, जैसे कि चित्रा मौजूद है। न केवल उसकी उपस्थिति को वह अनुभव ही कर रहा है बल्कि गौरांग ने उसकी चूड़ियों की दबी सी आवाज तक सुनी है। प्रत्येक स्त्री की चूड़ियों की आवाज भिन्न होती है, भले ही दो स्त्रियों ने एक जैसी ही चूड़ियाँ क्यों न पहनी हों। प्रत्येक गुलाब की अपनी ही सुगन्ध होती है, इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री की न केवल अपनी ही गन्ध बल्कि वर्ण और शब्द तक होते हैं। तो क्या यह संभव है कि आज चित्रा गयी ही न हो? परन्तु यह कैसे सम्भव है?

चाय वह पी चुका था। बाल्कनो से समुद्र पर्यन्त तक का सुदूर का दृश्य फोटो के लिये आदर्श विषय की भाँति फैला हुआ था। पाँचवीं मंजिल से नीचे देखने पर सड़क, सड़क न लग कर टाइपराइटर के राड-सी लग रही थी, जिस पर की-बोर्ड के अक्षरों-सी मोटरें आ-जा रही थीं। बाल्कनी के तत्काल बाद जो गहरा विस्तार है, उसमें प्रायः तैर जाने को गौरांग का मन करता है। निरन्तर धरती से बँधे रहना कितना ऊबा देने वाला होता है। रोज की तरह वाश-बेशिन में जब वह चाय के बर्तन धो रहा था तो उसे हठात लगा, जैसे चित्रा की गरम-गरम साँस उसकी गर्दन के पीछे उसे छू रही है। कुछ क्षण वह अपने इस भ्रम की टोह लेता रहा कि गर्दन के पीछे यह रेशमी स्पर्श चित्रा के केशों का नहीं है तो फिर किसका है? परन्तु बेसिन के शीशे में पिछली दीवार पर लगे मनी-प्लांट की हरी वक्र-रेखा दिखती हुई विलीन थी। ड्राइंग-टेबल

और किचन को अलग करने वाले परदे के तथा फ्रिज की उत्पादित सौम्यता के अलावा कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था। वस्तुओं की वास्तविकता थी, न कि किसी व्यक्ति की। डाइनिंग-टेबल पर स्पून-स्टैंड, प्लेट-मेट्स और टूथ-पिक पैकेट के अतिरिक्त टेबल का वार्निशी चिकनापन उसके सिरों पर जाकर समाप्त हो गया था। फ्लैट में, फ्लैट की प्रत्येक वस्तुयें तथा फ्लैट के एकमात्र व्यक्ति गौरांग तक में एक ऐसी निस्तब्धता थी, जैसी कि चित्रों में होती है। कहीं किसी प्रकार का कोई कम्पन नहीं था। फ्रिज पर रखा 'एयर इण्डिया' वाला महाराजा यथावत विनम्र बना हुआ खड़ा था। क्यों ऐसा होता है कि व्यक्ति तो हमारे सुख-दुख के सह-भागी हो जाते हैं, परन्तु वस्तुएँ नहीं, परन्तु चाहते हैं हम वस्तुओं से ही घिरते जाना ? फ्रिज हमें कोल्ड-बियर से लेकर आइसक्रीम तक उपलब्ध कर देता है। स्टीरियों हमें रागों-धुनों और आवाजों से घेर देता है। टी० वी० हमें घटनाओं के बीच में खड़ा कर देता है। तात्पर्य यह कि वस्तुएँ क्रमशः व्यक्ति को स्थानापन्न करती जाती हैं। प्रत्येक शाम टी० वी० पर जब चित्रा को वह आचरण करते देखता है तो लगता नहीं कि वह घर में नहीं है। हाँ, यह एक अतिरिक्त सुविधा अवश्य है कि जब जी चाहा टी० वी० वाली चित्रा को आफ किया जा सकता है, परन्तु क्या वास्तविक की चित्रा के साथ ऐसा सम्भव है ?

कैसे परिचित पथ अनजानी राहों में परिणत हो जाते हैं और तब लगता है कि रास्ता लम्बा ही होता गया है और होता जा रहा है। रोज ही वह सबेरे अखबार ठीक से नहीं पढ़ पाता। केवल चलते-चलते देख भर पाता है। शाम की चाय पीते हुए, या चाय के बाद पाइप पीते हुए अखबार खोलकर सबसे पहले वह यह देख लेता है कि आज टी० वी० पर कौन-कौन से कार्यक्रम हैं और चित्रा किस-किस में रहेगी। टी० वी० की प्रतीक्षा के लिए ही शायद वह बेमन से खबरें पढ़ता है। हाँ, इसी तरह अखबार पढ़ते हुए ही तो उसने एक दिन चित्रा को जाना था कि वह एक नर्तक कलाकार है और जिसके कार्यक्रम राजभवन में भी सम्पन्न हुए हैं। गौरांग जिस औद्योगिक प्रतिष्ठान में था, वहाँ किसी शिलान्यास के सिलसिले में किसी माननीय अतिथि के सम्मान में एक सांस्कृतिक कार्यक्रम के हेतु उसे ही चित्रा से मिलना पड़ा था और इस प्रकार के संयोग-प्रधान परिचयों की परिणति जिस प्रकार की प्रायः होती है, वही गौरांग और चित्रा के साथ भी घटित हुई और आज से पाँच वर्ष पूर्व श्री और श्रीमती बनकर वे इस फ्लैट में आकर रहने लगे। विगत पाँच वर्षों के बारे में जब कभी गौरांग

सोचता है, तो लगता है, जैसे वह उत्तरोत्तर ठंडी होती हुई बर्फ की सिल पर खड़ा है जैसे गौरांग और चित्रा दो रेखाएँ थीं, जो विवाह के बिन्दु पर मिलकर, फिर छिटक कर अपनी-अपनी दिशा पर आगे बढ़ गई है। गुणा के चिह्न वाला विवाह का यह क्रास...क्या होगा इसका !

● ●

अखबार पढ़ते हुए पाइप बुझ चुका था और शाम के छः भी बज रहे थे। टी० वी० आन किया। चित्रा अत्यन्त सुषमित ढंग से समाचार पढ़ रही थी। चित्रा आज कुछ अतिरिक्त लग रही थी। लेकिन अतिरिक्त से गौरांग का क्या तात्पर्य था, यह वह स्वयं नहीं स्पष्ट था, पर कुछ था अवश्य, जिसे वह अपने लिये ही परिभाषित करना चाह रहा था। जरी के चौड़े पाट की यह साड़ी, जिसे चित्रा पहने हुए थी, उसे विशेष प्रिय थी। इसमें साड़ी का मूल्यवान होना शायद उतना कारण न हो जितना कि इसका तम्बाकू रंग। यह रंग वह अपने लिये बड़ा ही शुभ सूचक मानती है। गौरांग को ठीक से याद है कि चित्रा ने विवाह के समय भी यही रंग धारा था। तब...आज चित्रा ने इसे क्यों पहना है...? लेकिन चित्रा इस रंग को क्या और कभी नहीं पहनती है ? गौरांग इतनी सी बात पर क्यों चौंक रहा है और...तभी समाचार दर्शन समाप्त कर चित्रा ने रोज की ही भाँति सभी को 'नमस्कार' किया, पर गौरांग को लगा कि जैसे टी० वी० से बाहर निकलकर चित्रा उसे नमस्कार करती खड़ी है।

तभी फिल्म डाइरेक्टर धूमकेतु का इन्टरव्यू लेती चित्रा दिखलायी दी। गौरांग ने अखबार में पढ़ा था कि एक फिल्म डाइरेक्टर 'न्यू टैलेंट्स' और 'न्यू फेसेज' के लिए आये हुए हैं। गौरांग को उस इन्टरव्यू में ऐसा नहीं लग रहा था कि चित्रा किसी सामान्य फिल्म डाइरेक्टर का औपचारिक साक्षात्कार ले रही है, बल्कि दोनों के मुखों और आवाजों के अन्दाज में भी एक ऐसी प्रच्छन्न ऊष्मा थी, जिसे सम्बन्ध न भी कहें, तो भी शायद निकटता कहा जा सकता था। क्या सच ही...?

"डाइरेक्टर साहब, क्या यह बताने की कृपा करेंगे, कि आप जिन नये व्यक्तियों की तलाश में आये थे, वे मिले या नहीं ?"

चित्रा के इस प्रश्न पर धूमकेतु ने जिस पारखी एवं तौलने वाली दृश्य से चित्रा को देखा, वह किसी अपरिचित इन्टरव्यू देने वाली की दृष्टि नहीं थी।

"चित्रा जी, मैं यहाँ नये व्यक्ति को नहीं, बल्कि कहना चाहिए, नये व्यक्तित्व

की खोज में आया था।'

"क्या आप स्पष्ट करेंगे कि नये व्यक्तित्व से आपका मतलब क्या है ?"

"जरूर। आपने देखा होगा कि फिल्मों में एक समय में एक खास तरह के चेहरे ही चला करते हैं। एक समय बाद वे चेहरे लोकप्रिय होने के बावजूद 'मोनोटोनस' लगने लगते हैं, तब फिल्मों में ताजगी लाने के लिये हम फिर लोगों के बीच तलाशने लगते हैं उस नये चेहरे, नये व्यक्तित्व को, जो अपने समय का प्रतिनिधित्व कर सके।"

"डाइरेक्टर साहब..."

"चित्रा जी, अच्छा हो कि आप मुझे मेरे नाम से ही संबोधन करें, न कि मेरे पेशे से !" और दोनों खिलखिला पड़े।

"तो धूमकेतु जी, मैं यह पूछ रही थी यह काम तो वास्तव में बहुत ही गम्भीर और साथ ही बहुत मुश्किल होना चाहिये।"

"सोचता तो मैं भी हूँ।"

"तो क्या आप अपनी खोज में सफल रहे ?"

"फिलहाल तो मेरा यही ख्याल है !" यह कहते हुए धूमकेतु ने जिस प्रकार चित्रा को पारदर्शी नजरों से देखा, उससे यही कहा जा सकता था कि स्त्री रूपी हीरा ऐसी धार से ही कटा करता है।

चित्रा ने कन्धे पर खिसक आये पल्लू को ठीक करते हुए पूछा "किसी में व्यक्तित्व की खोज करते समय आपका मानदंड क्या होता है ?"

"आपका प्रश्न ठीक से समझ नहीं पाया।"

"क्या सच ही ?"

वह हँसते हुए बोली थी और लगभग हँसते हुए ही परन्तु सन्तुलित ढंग से धूमकेतु ने उत्तर भी दिया, "आप क्या समझती हैं ?"

"मेरे प्रश्न का मतलब था कि नये व्यक्ति में आप क्या देखते हैं और उसका आधार क्या होता है ? मेरा ख्याल है, मैं अपनी बात कह पायी हूँ।"

"जी हाँ, चित्राजी। प्रत्येक व्यक्ति में सबसे पहले दिखाई देने वाली चीज होती है उसका शारीरिक व्यक्तित्व। वैसे तो हम सब के पास शरीर होते हैं। पर शारीरिक व्यक्तित्व कितनों के पास होते हैं ? और होने पर भी वे उसे वहन किस प्रकार करते हैं ? पुरुष का सुदर्शन होना और स्त्री का अप्रतिम होना हमारे लिये इसलिए आवश्यक होता है कि हम उन्हें सिकन्दर और विल योपेट्रा

की भूमिका से लेकर रोज के लोगों का प्रतिनिधित्व करने के लिये कैमरे के सामने प्रस्तुत करते हैं।"

"धूमकेतुजी, आपने तो चकित कर दिया! सचमुच ही शारीरिक व्यक्तित्व का रेंज बहुत बड़ा है। अच्छा, कुछ यह भी बताने की कृपा करें कि उसके अलावा और क्या आप देखते हैं?"

"हम यह देखते हैं कि वह कैसे बोलता है, कैसे देखता है, कैसे चलता है। लोग जीवन भर बोलते हैं, देखते हैं, चलते हैं, पर क्या सच ही ऐसा है?"

"क्या आप कहना चाहते हैं कि सामान्य व्यक्ति यह सब नहीं जानता?"

"नहीं, जानता है, पर हम उसमें कलात्मक सम्भावनाएँ खोजते हैं।"

"इसके अलावा और भी कुछ देखते हैं?"

"जी हाँ, यह कि वह व्यक्ति अपने भावों को किस प्रकार अभिव्यक्त करता है। आवाज़ का रेंज कितना है। उसकी शिक्षा और उसके संस्कारों को उसके व्यक्तित्व के साथ कितना तालमेल है।"

"ओ बाबा! मैं तो समझती हूँ कि हजारों में ही शायद ही कोई इस कसौटी पर खरा उतरता होगा!"

"चित्राजी, आप बिल्कुल ठीक समझीं।"

"अच्छा, यह बतलाइये कि जिन्हें आप चुनते हैं, उनमें ये सारी बातें मिल जाती हैं?"

"चित्राजी, सारी बातें तो किसी में भी नहीं होतीं—न हममें, न आप में... क्या मैं झूठ कह रहा हूँ?"

धूमकेतु एक क्षण के लिए रुका और उसने चित्रा को ऐसे देखा, जिसके कारण चित्रा ने कुछ असुविधा अनुभव की। अपनी बात पूरी करते हुए वह बोला, "हम पूर्ण की नहीं, सम्भावना की तलाश करते हैं।"

"अब मैं आपसे अन्तिम सवाल करना चाहती हूँ कि इस प्रकार के चुनाव के बाद क्या होता है?"

वह हँसते हुए बोला "चुनाव के बाद...? मेरा ख्याल है चित्राजी कि यहाँ चुनाव से आपका मतलब 'सेलेक्शन' से है, न कि 'एलेक्शन' से!"

दोनों खिलखिला कर हँस पड़ते हैं। धूमकेतु ही बोला, "चुनाव के बाद हम उन्हें एक कैरियर प्रोवाइड करते हैं।"

"और मेरा ख्याल है धूमकेतु जी कि यह प्रत्येक की अपनी प्रतिभा पर निर्भर करता है कि कौन क्या बन पाता है। है न ?"

'आप बिल्कुल ठीक समझीं...। चित्राजी, आपने तो इतने सारे प्रश्न कर डाले, लेकिन क्या मैं भी आपसे एक प्रश्न पूछ सकता हूँ ?"

चित्रा हँसते हुए बोली, "सवाल आप पूछ सकते हैं, परन्तु ध्यान रहे कि इंटरव्यू आप दे रहे हैं, मैं नहीं।"

दोनों फिर हँस पड़ते हैं। वह बोला, "यदि आपको ऐसा कोई आफर मिले, तो आपको कैसा लगेगा ?"

एक क्षण तो चित्रा अवश्य हतप्रभ हुई दिखी, परन्तु तत्काल अपने को व्यवस्थित कर हँसतें हुए बोली, "देखिये, एक तो अभी कोई ऐसा आफर मिला नहीं, दूसरे, हमारे इस कार्यक्रम का समय भी समाप्त हो रहा है...तो धूमकेतु जी, हम आपके आभारी हैं कि आपने हमें इतना समय दिया...नमस्कार !"

चित्रा का 'नमस्कार' सामान्य था भी और नहीं भी। लेकिन वह किस प्रकार असामान्य था, इसे गौरांग ही क्या, कोई भी नहीं बता सकता था। प्रत्येक सार्वजनिकता किसी-न-किसी की वैयक्तिकता से भी जुड़ी होती है, परन्तु पूछ बैठने पर कोई भी इसे स्वीकार नहीं करेगा। जब भी सार्वजनिकता में से वैयक्तिक अर्थ खोजने की चेष्टा की जाती है, तब व्यक्ति गौरांग की-सी मनःस्थिति में से ही गुजरेगा। वह स्वयं स्पष्ट नहीं था कि वह क्या तलाश रहा था। कोई विषमता थी, जिसे वह आज नहीं देख पा रहा था।

● ●

कमरे में उसे घुटन होने लगी। वह बालकनी से निकल आया। हठात् बालकनी में आने पर उसे लगा कि प्रत्येक घर का पिंजरा ही तो होता है। पिंजरे में भी तो पक्षी नकली डाली पर जब बैठे-बैठे ऊब जाता है, तो झूले पर झूलने लगता है और झूलते हुए भी जब ऊब होने लगती है तो पिंजरे में चक्कर लगाने लगता है और जब इससे भी हार जाता है, तो क्रम बदल देता है, ताकि पिंजरे का पिंजरापन पूरी तरह नष्ट न हो तो भी क्रम तो बना रहे। सड़कों के प्रकाश में भागता जीवन था। एक बँधे-बँधाये व्रत में प्रत्येक व्यक्ति हर रोज़ जीता है। क्यों ? किसलिये ? क्या इनका उत्तर उसके पास है ? शायद हममें से कोई भी इनके उत्तरों का सामना नहीं करना चाहता।

वह टी० वी० खुला ही छोड़ आया था। वह जान रहा था कि नाटक चल

है, क्योंकि चित्रा की आवाज पीठ की ओर से आ रही थी। प्रायः उसने चित्रा की अभिनय-कला की प्रशंसा ही की है। मित्रों तथा प्रतिष्ठान में भी चित्रा की प्रसिद्धि के कारण गौरांग को लोग अतिरिक्त ही लेते हैं, परन्तु आज नाटक देखने को मन नहीं कर रहा था। बल्कि उसे लगा कि वह शब्दहीन निस्तब्धता में रहना चाहता है। इसलिये वह टी० वी० आफ करने के लिये मुड़ा। नाटक अपने चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था। नायिका झरना, अर्थात् चित्रा, नायक निशीथ से उलझ रही थी।

"झरना, तुम समझने की चेष्टा क्यों नहीं करती ?"

"तुम क्या समझाना चाहते हो ? तुम आठ वर्षों से जो नहीं समझा सके, उसे आज बातों से समझा सकोगे, निशीथ ?"

"तुम समझने की चेष्टा करो झरना कि वस्तुओं की तलाश व्यक्ति को अमानवीय बना देती है।"

"निशीथ, मैं यह सब बड़ी-बड़ी बातें न तो जानती हूँ और न समझना ही चाहती हूँ। मैं तुम्हारे लिए यही कह सकती हूँ कि तुम जैसे लोगों के लिए उन्नीसवीं सदी ही अन्तिम थी। तुम्हें उसी सदी में पैदा होना चाहिए था !"

"तुम ठीक हो सकती हो, झरना ! परन्तु पैदा होना तो मेरे हाथ की बात नहीं थी। हाँ, विचार रखना तो मेरे हाथ की बात है और वही मैं कर भी रहा हूँ।"

"तभी तो कहती हूँ कि निशीथ, हम एक बिन्दु पर अवश्य मिले थे, परन्तु अब हमें अलग हो जाना चाहिए। मैं दुस्साहस करते हुए टूट जाना पसंद करूँगी। पर दैनंदिनता भोगते हुए मरना नहीं चाहती !"

"तुम्हारे लिए जीवन का मूल्य, आदर्श..."

"प्लीज, निशीथ, ! डोंट टॉक रॉट ! आइ ऐम फैड अप विद आल दिस हाइब्राउ बंकस...! हमें एक मित्र की तरह अलग हो जाना चाहिए। मैं सम्बन्ध का द्वार ऐसा बन्द करके नहीं जाना चाहती कि किसी दिन आवश्यकता होने पर यहाँ लौटने में मुझे संकोच लगे।"

"तभी कालबेल की घंटी बजी। निशीथ और झरना, दोनों चौंके। झरना एक क्षण को झिझकी, लेकिन फिर अपनी अटैची उठाते हुए बोली, "टैक्सी वाला है। अच्छा, निशीथ...!"

और निशीथ के उत्तर देने के पूर्व ही झरना दरवाजा खोल कर चली गई।

नाटक समाप्त हो गया था। गौरांग ने टी० वी० साफ किया। पाइप को फिर से सुलगा कर वह सोफे पर बैठ कर कुछ सोचना चाहने लगा। उसका ध्यान साइड-टेबल पर रखे राइटिंग पैड पर तहाये हुए एक पत्र की ओर गया। वह उस पत्र के प्रति, जिसे वह कागज समझ रहा था, उदासीन होना चाहता था, पर ऐसा वह न कर सका। निश्चय ही गौरांग के नाम वह एक संक्षिप्त-सा ही चित्रा का पत्र था। वह समझा, चित्रा कुछ सामान आदि के लिये आदेश छोड़ गई होगी···

"गौरांग,

मैं नहीं जानती कि यह पत्र तुम्हें कब मिलेगा और किस मनःस्थिति में तुम इसे पढ़ोगे। मैं भी नहीं समझ पा रही हूँ कि अपनी बात और स्थिति तुम्हें कैसे स्पष्ट करूँ। पर इतना अवश्य जानती हूँ कि यदि हमने इस बारे में आपस में चर्चा की होती, तो समय की बरबादी के साथ-साथ ग्रंथियाँ ही अधिक बढ़ाई होतीं। मैं जा रही हूँ, शायद रात मैं न लौट सकूँ...और गौरांग, यदि बहुत दिनों तक लौटना न हो सके, तो क्या तुम क्षमा नहीं कर सकोगे?

तुम्हारी, चित्रा।"

गौरांग को लगा कि जैसे यह भी टी० वी० का ही कोई कार्यक्रम था। जिसकी पूर्व घोषणा न की जा सकी थी। पाइप की गर्मी हथेली को किंचित जलाने लगी थी। शायद कुछ सूत्र थे, जिन्हें वह जोड़ना चाह रहा था। तभी कालवेल बजी। कौन हो सकता है···? क्या···क्या···?

दरवाजा खोलने पर देखा कि कोई अपरिचित दम्पति कुछ पूछने की मुद्रा में खड़े हुए थे।

"कहिए?"

"क्षमा करें, ये बगल वाले वातल साहब और उनका परिवार कहीं गया है क्या?"

"मुझे दुःख है कि वातल परिवार के बारे में मैं कोई सूचना आपको नहीं दे सकता।"

दम्पति खिन्न भाव से लौट रहे थे। दालान के खालीपन में दम्पति के पैरों की दूर होती हुई आहट को वह देखता और सुनता खड़ा रहा। उनके चले जाने पर दालान का खालीपन उसे कहीं अधिक कचोटने लगा। दरवाजा बंद करने के लिये हैंडिल पर हाथ पड़ते ही उसे लगा कि उसकी धातु में ठंडापन लौट चुका है और उस पर किसी भी स्पर्शबोध का कोई आभाष नहीं है।

———

गुस्सा

[ममता कालिया]

इक्यावन साल की उम्र में वे अपनी उञ्चास साल की पत्नी से दुखी आकर घर छोड़ कर चले गए ।

जिस दिन वे घर छोड़ कर गए, कई घंटों तक उनकी पत्नी को इस बात की आशंका भी नहीं हुई थी, कि यह उनका अन्तिम प्रस्थान है । वह यही सोचती रही कि वे नुक्कड़ के होम्योपैथ के यहाँ रोज की तरह अखबार पढ़ रहे होंगे या रेडियो सुन रहे होंगे । फिर वह आदतन बड़बड़ाने लगी कि उन्हें फ़िक्र नहीं, कि वह उनकी रोटी लिए क्या आधी रात तक बैठी रहेगी, कि वे यों चल देते हैं, जैसे घर, घर न हो कोई सराय हो । इसी झुंझलाहट और इन्तजार में उसे भूख भी लग आई । और उसने अपनी थाली परोस ली । वैसे वह और इन्तजार भी कर सकती थी, पर इस तरह उसका अलग और पहले खा लेना पति के लिए एक धमकी थी, जो वह खास नाराजी के वक्त पर देती थी । फिर साथ खाने में उन लोगों की लड़ाई हो जाती थी । लड़ाई के समय वह बिल्कुल भूल जाती कि वे खाना खा रहे हैं और इस समय वह चुप रहे तो बेहतर है । वह अगला-पिछला सब हिसाब चुकता करने के मूड में आ जाती । वे चुपचाप सुनते रहते और आधा खा कर उठते-उठते एक अचूक वार कर देते, 'इसलिए तो तुम्हारे घर का कुत्ता तक तुम्हें छोड़ गया ।'

इस वाक्य के साथ-साथ माया की बड़बड़ाहट शुरू हो जाती और घर में जहाँ कहीं भी वे बैठते, यह बड़बड़ाहट एक जिद्दी मक्खी की तरह उनका पीछा करती ।

वर्षों का पालतू उनका कालू उस दिन की मार के बाद वापस नहीं आया । हुआ यह कि माया ने पति का सफेद स्वेटर धो कर चटाई पर सूखने को डाला

और कालू उस पर पाँव धरता हुआ बरामदे में चला गया। उसके पंजे ज्यों-के-त्यों मैले नक्शे की तरह स्वेटर पर छप गए। जैसे ही माया को इस वारदात का पता चला वह वहशियों की तरह हाथ में लकड़ी ले कुत्ते की तलाश में घर में घूमने लगी। आखिर उसने उसे तख्त के नीचे सुख की नींद लेते पाया। फिर तो उसने कुत्ते को इतना मारा कि बाद में देर तक उसकी साँस फूली रही।

कुत्ता लँगड़ाता और रोता हुआ बाहर भाग गया और फिर इस गली में किसी ने उसे नहीं देखा।

पर माया को लगा इसमें उसका क्या कुसूर? आखिर कालू ने गलती की थी, सजा तो उसे मिलनी ही चाहिए थी।

पर उसने यह थोड़े ही चाहा था कि वह भाग जाय। उसका खयाल था जिन्दगी ने हमेशा उसके साथ अन्याय किया है।

उसके दोनों लड़के अपनी बीवियों और नौकरियों में मशगूल थे, उन्हें कभी खयाल ही नहीं आया कि उनके माँ-बाप अपना वक्त कैसे काटते होंगे। कभी उन्हें ज्यादा लिखते कि उनकी याद आ रही है, तो वे एक मनीऑर्डर भेज देते। उनकी बीवियाँ कभी उसे चिट्ठी नहीं लिखतीं मानों वह उनकी कुछ लगती ही नहीं। यही लड़कियाँ, जब माया उन्हें पसन्द करने गई थी, उसकी तरफ आँख उठा कर देखने में भी डरती थीं। अब एक ने उससे बिना पूछे अपने बाल कटवा लिए थे और दूसरी ने तीसरी बार लड़की पैदा कर दी थी। ये सभी बातें माया को गुस्सा दिलाती थीं।

पर इनसे भी ज्यादा जिस बात पर उसका खून खौलता था, वह था उसके पति का इन ज्यादतियों को मुस्कुरा कर नजर अन्दाज करना। उनका एक समर्पण प्रधान व्यक्तित्व था और माया का आक्रमण-प्रधान। पति को न बेटों से शिकायत थी, न बेटों की बीवियों से। वे अपनी तरफ से हर महीने उन्हें चिट्ठी लिख दिया करते थे, बिना यह हिसाब किए कि पिछली चिट्ठी का जवाब आया या नहीं। वे बच्चों से कोई अपेक्षा नहीं रखते थे। बल्कि वे अब भी यही सोचते थे कि उन्हें, बच्चों के लिए कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए।

इसी चाव में उन्होंने उस दिन माया से कह दिया कि अगले महीने उन्हें अपने पहले बीमे का जो एक हजार रुपया मिलेगा, उसे वे दोनों बेटों में आधा-आधा बाँट देंगे। आखिर दस साल पहले उन्होंने यह बीमा इसलिए कराया था

कि बच्चों की पढ़ाई में इसकी जरूरत पड़ सकती थी। फिर वे सब काम उनकी तनख्वाह से ही निकल गए। ये पैसे जोड़े गए तो बच्चों के नाम से ही।

माया भड़क गई, 'अच्छा, यहाँ सदाव्रत खुला है, जो बाँट देंगे, लुटा देंगे। उनकी मेमें एक घंटे में बाजार जा कर उजाड़ देंगी। मैं जानती हूँ कैसे मैंने पाई-पाई जोड़ कर घर बनाया है। हर तिमाही बीमे के लिए रुपए तो मैं ही देती थी। बस, जो है बच्चों में लुटा दो। कभी मेरा भी सोचा है, तुम्हारे बाद मेरा क्या होगा?'

वे हँसे, 'अरे भई, अच्छी सधवाएँ तो यही मनाती हैं कि वे पति के रहते-रहते ही चल बसें।'

माया में मजाक बरदाश्त करने की क्षमता कभी भी नहीं थी। और फिर ऐसे मजाक! वह चिल्लाई, 'तुम तो ऐसे ही बच्चों के लिए करते-करते मर-खप जाओगे, मैं कहाँ जाऊँगी, किसके सहारे जिऊँगी। ये तुम्हारी बहुएँ मुझे एक पंखा और दरी हाथ में देकर न निकाल बाहर करें तो मेरा नाम बदल देना।'

उन्होंने कहा, 'नाम बदलने के लिए तब मैं तो नहीं हूँगा, तुम्हीं कोई अच्छा सा पंडित बुला कर नामकरण संस्कार करवा लेना।'

माया का गुस्सा बढ़ता ही गया था। गुस्से ही गुस्से में पहले उसने बर्तन पटके, फिर कुर्सियाँ एक से दूसरी जगह घसीट डालीं और बाद में बेजरूरत सीली हुई लाल मिर्चें कूटने बैठ गई।

ऐसे मौकों पर उसके पति की विनोदप्रियता सक्रिय हो जाती थी। उन्होंने पास आकर कहा, 'यह क्या ओखली में मुझे डाल कर कूट रही हो?'

'हाँ, हाँ तुम्हें! लो और लो, शांति हो जाय तुम्हें, कहते हुए उसने दनादन मूसल अपने सिर पर मारनी शुरू कर दी। अपने इस उन्माद का अहसास उसे थोड़ी देर बाद हुआ, जब उसने पाया उसके सिर में भयंकर पीड़ा है और उसका पति उसके आस-पास कहीं नहीं है।

वह परास्त सिर पकड़ कर बैठ गई।

उससे कुछ सोचा नहीं जा रहा था।

बहुत देर बाद उसने सिर पर ठंडा पानी डाल लिया। इससे दर्द और सूजन दोनों बढ़ गई।

बड़े कष्ट से उसने खाना बनाया और अब वह बैठी पति का इन्तजार कर रही थी।

इतना झगड़ा तो कई बार होता था। पति थोड़ी देर को बाहर जाते, आकर निःशब्द खाना खाते और बाहर वाले कमरे में तख्त पर सो जाते।

पड़ोस के रेडियो से जब राष्ट्रीय गान सुनाई पड़ा तो माया को चिन्ता हुई। इतनी देर तो वे कभी नहीं करते थे। होम्योपैथ भी दस बजे दूकान बन्द करके सोने चला जाता था। उसने गली के एक लड़के को भेज कर दिखवाया। होम्योपैथ की दूकान बन्द हो चुकी थी। बल्कि पिछवाड़े उसके घर की सभी बत्तियाँ बन्द थीं।

माया ने उस लड़के को गली के मोड़ तक दौड़ाया, पर उसके पति का कोई चिन्ह नहीं मिला।

अब वह आशंका से भरी पूजा के कमरे में गई और उसने भगवान की बड़ी तस्वीर के पीछे हाथ डाल कर देखा।

उसका दिल धक् से रह गया।

उनकी गुटका रामचरितमानस, जिसका वे सुबह-शाम पाठ करते थे, जगह पर नहीं थी। माया को याद आया, वे अक्सर कहते थे, 'देख लेना, जिस दिन मैं तुम्हारी इस किच-किच से तंग आ गया तो बस, उठा अपनी रामायण चला जाऊँगा, पीछे मुड़ कर भी नहीं देखूंगा एक बार!'

वह ऊपर से नीचे तक कांप गई और वहीं जमीन पर बैठ गई। रात के इस अँधेरे में वह कहाँ जाय उन्हें ढूंढ़ने!

पड़ोस में उसका किसी से खास मेलजोल नहीं था। उसे यह भी समझ नहीं आया कि तलाश वह कहाँ से और कैसे शुरू करे।

रात भर वह अपना दुखता सिर पकड़े बैठी रही और बराबर सोचती रही कि सुबह तक उनका गुस्सा ठंडा हो जायेगा और मुँह अँधेरे दरवाजे पर पहली आहट उन्हीं की होगी। वे रोज की तरह धोती और अँगोछा लेकर नल पर नहाने चले जायेंगे और वह रोज की तरह उनके लिए चाय तैयार करेगी। पर सुबह छोड़ दोपहर हो गई, धूप भी उतरने लगी, वे नहीं आये।

जैसे-जैसे घंटे खिसक रहे थे, उसे अपमानित महसूस होता जा रहा था। आखिर किस बात की सजा वे उसे दे रहे हैं? उसने क्या गलती की, अगर कह दिया कि बीमे के पैसे लड़कों को देने की जरूरत नहीं!

अचानक उसे लगा हो न हो वे जरूर, दो में से किसी एक बेटे के पास गए होंगे।

यह सोच कर आशा और आश्वासन के साथ-साथ उसे फिर अपमान-बोध हुआ, लेकिन वह कुछ देर के लिए चिन्ता-मुक्त हो गई ।

उसने उनके दोस्त होम्योपैथ से दोनों बेटों को तार भिजवाए कि वे बाप की पहुँच और राजी-खुशी की सूचना दें ।

इन्तजार की एक और लम्बी किस्त ! उसके छोर पर एक के बाद एक बेटों का आकस्मिक आगमन ! आते ही वे उस पर बरसने लगे कि बाबूजी कहाँ चले गए, उसने उन्हें कहाँ भेज दिया, अब वे उन्हें कहाँ ढूंढ़ें ! हिन्दुस्तान कोई इलाहाबाद का अतरसुइया तो नहीं, जो वे एक चक्कर लगा लें ।

माया हक्का-बक्का रह गई ।

इस सम्भावना पर उसने विचार नहीं किया था ।

जब बेटों ने गंगा पर नाव वालों से जाल डाल कर उन्हें ढूंढ़ने को कहा तो रुलाई के साथ उसका अवश क्रोध फूट पड़ा, 'तुम लोग बच्चे होकर बाप का बुरा सोच रहे हो ? अरे, वे क्यों जाने लगे गंगाजी पर, जायें उनके दुश्मन ?'

बेटों ने घुड़क कर उसे एक कोने में बैठा दिया ।

वे आसपास के सभी कस्बों-शहरों में हो आये लेकिन कहीं सुराग नहीं मिला ।

आखिरी बार उनके पिता को गली के सब्जीवाले ने देखा था पर उसकी उनसे कोई बात नहीं हुई थी । उस इलाके के सब रिक्शेवालों से भी पूछा गया पर कोई उन्हें बैठा कर कहीं नहीं ले गया था ।

बेटे पुलिस में रिपोर्ट कर आये, अखबारों में इश्तहार दे दिया । इन्तज़ार के अलावा और क्या किया जा सकता था !

माया हर नए प्रयत्न पर उम्मीद लगा कर दिन काटती, फिर निराश हो जाती ।

बेटे उससे सलाह करना जरूरी नहीं समझते । आपस में तय करते और चल देते ।

गली के शैतान बच्चे उसे सुना कर कहते, 'कालू भी गया, काका भी गए, उनकी जगह पर भूत आ गए ।'

माया को सब की आँखों में अपने लिए धिक्कार ही धिक्कार दिखता ।

जैसे ही बेटों के आगे मुँह खोलती, उसकी रुलाई फूट पड़ती । बेटे झल्ला

उठते, 'रहने दो अम्मा, हम क्या तुम्हें जानते नहीं हैं ? तुम तो जुबान से चाबुक का काम लेती हो ।'

आखिर तीन हफ़्ते की दौड़-धूप के बाद भी जब उनका कुछ पता न चला तो बेटों ने कहा वो जा रहे हैं, वहीं से प्रयत्न करते रहेंगे । वे बोले अच्छा हो अगर माया उनमें से किसी के साथ चले । पर माया ने इनकार कर दिया । उसे उम्मीद थी जब भी उनका क्रोध शान्त होगा, वे इसी घर में आयेंगे ।

लड़कों ने जाते-जाते उसके हाथ में कुछ रुपये ठूंस दिये और कह गए कि हर महीने वे कुछ न कुछ भेजते रहेंगे ।

इसके बाद उसकी जो जिन्दगी शुरू हुई वह भयानक रूप से बियाबान थी । चेहरे की हँसी और आँखों की चमक न जाने कब उड़ गई । द्वार पर दूधवाले के सिवा और कोई आहट कभी नहीं हुई ।

कभी सुनने में आया माया के पति साधु होकर अमरनाथ में धूनी रमाए हैं, कभी सुना वे पांडिचेरी में स्कूल चलाते हैं । कभी सुना गया वे रेल की पटरियाँ लाँघते हुए धोती फँस जाने के कारण, वहीं मारे गए । बेटों ने इन अफवाहों का पीछा किया पर उनका पता न चला ।

दुख और अकेलेपन से बौखला कर कभी माया आस-पास के घरों में बात-चीत की कोशिश करती तो पाती किसी को समय नहीं है । पड़ोसी यह सोचकर कि शायद वह आर्थिक कष्ट में है, बड़े ठंडे लहजे में सहायता-वहायता जैसी बात करने लगते । वह झुंझला कर लौट आती । पति के जाते ही पैसा उसके लिए व्यर्थ हो गया था । अँधेरा होते ही उसे लगता जैसे मकान में वह नहीं, प्रेत चल-फिर रहे हैं । चुप रहते-रहते उसे लगने लगा था उसकी बोलने की ताकत खत्म होती जा रही है । महज जुबान की हरकत पहचानने के लिए वह रामायण खोलती लेकिन पाती कि इसका अर्थ भी उसके लिए खत्म हो चुका है । इससे बेहतर सुबह का समय था जब अपनी सारी पस्ती के बावजूद वह इन्तजार के तनाव को कुछ देर के लिये महसूस करती । एक दो घंटे में सारे काम निपटा कर वह खिड़की पर आ खड़ी होती और देर तक खड़ी रहती । उसके सारे बाल पक गये थे, आँखों को गली का मोड़ अब दिखाई नहीं देता था । फिर भी उसे लगता शायद वह अगला राहगीर उसके घर आयेगा या अगला या और अगला !

मुन्नू

[श्री वाचस्पति पाठक]

कल ही की बात है। गर्मी से व्याकुल होकर मैं अपने कमरे में लेटा था। मुन्नू ने मेरा पता पा लिया। वह ठीक ही समझता था कि मैं जाग रहा हूँगा। उसने दरवाजे के पास आकर जरा-सा अपना मुँह निकाला और कहा—झाँ...ँ।

मैं अब उसकी उपेक्षा न कर सकता था। उसके विश्वास के अनुसार ही मैंने धीरे से कहा—झाँ...ँ।

वह अभी छिप गया था। अभी दो एक बार वह ऐसा ही करना चाहता था, पर मैंने पुकारा—मुन्नू! मेरा राजा! आ बेटा! तुझे अच्छी-सी तसवीर तो दिखाऊँ!

वह दौड़ आया। एकदम आकर मेरे ऊपर झूल पड़ा। पास पड़ी पत्रिका के पन्ने उलट कर मैंने कहा—देख! देख!!

वह खूब हँसने लगा—हाः-हाः-हाः। उसके छोटे-छोटे चमकीले दाँत उसकी हँसी को चमाचम कर रहे थे।

मैंने पूछा—है न अच्छी?

वह खिलखिलाकर हँस पड़ा। उस रंगीन चित्र की मोहकता का उस पर असीम अधिकार था! वह अभी उसे खूब देखना चाहता था, पर मैंने पत्रिका के पन्ने उलटते हुए कहा—और देखो, ये।

उसकी वह हँसी बढ़ती ही गई। रंगीन चित्रों पर वह खूब ठहाके लगाता। मैं उनके लिए रुकता भी अधिक था। हँसी के साथ-ही-साथ वह अपनी तोतली वाणी में पूछता भी जाता था—कौन है? क्या है?—मेरे बतलाने को वह कुछ समझता तो था नहीं। उसको आती थी अपनी हँसी।

मेरे लिए अब इस प्रसंग में आकर्षण न रह गया था। इसीलिए उससे बातें भी न हो पाती थीं। हाँ-हाँ, एक बात और भी मैंने सोची। दूसरों ने उसकी ना-समझी का एक और फायदा उठाया है। उसे महिलाओं के चित्रों को दिखला कर खूब झुठलाया होगा। यह तो तेरी माँ है मुन्नू ! यह नानी...चाची...! भाभी...! आदि कहा होगा। मैंने ऐसा कई बार देखा है, इसलिए उसके केवल हँसने के कारण मैंने ऐसा अनुमान लगाया। खैर !

मैं उसे लिये आराम-कुर्सी पर आ गया। मुझे बातें करके अपने सोने के लिये उसे खुश कर जल्द भेजना भी था। बच्चों को तो प्यार से ही सन्तोष मिलता है। वे इसी की कीमत समझते हैं। मैं यद्यपि इसको उन्हें गुदगुदा हो कर जना पाता हूँ फिर भी उनकी प्रसन्नता उन्हें मिल जाती है। मैंने गुदगुदाना और उससे बातें करना शुरू कर दिया। तुमने खाना खा लिया ? क्या खाया ? इसके चारों ओर उसकी हँसी गजरे की तरह गुँथती चली जा रही थी।

इतने में वह काली-सी बिल्ली दौड़ गई। बस, फिर क्या था। उसे भी एक बात मिल गई। उसने अपना भला-सा मुँह बनाया और कहा—म्याऊँ। और शायद किसी से सुनी हुई बात लेकर कहा—यह शेर की मौसी है ! है न ?

यह···यह मुन्नू ! मैंने जैसे डर कर पूछा—तब तो यह बड़ी बुरी बात है।

मेरी डर से चढ़ी हुई आँखें देख कर आश्चर्य से उसने कहा—अरे ! यह बुरी बात है ? वह फिर हँस पड़ा।

और क्या—मैंने बतलाया—तुम नहीं जानते ? शेर हाथियों को चपतें मार कर गिरा देता है, उन्हें फाड़ डालता है, खा जाता है। हम सब उससे बचते हैं। फिर यह उसकी मौसी कितनी कातिल होगी ? पूरा डरा हुआ बन कर मैंने कहा—मुझे बड़ा डर लगता है मुन्नू।

हा...हा...हा...और मुझे ?—उसने पूछा।

"तुम तो राजा की तरह सचमुच नहीं डरते मुन्नू !" मैंने कहा।

मेरी यह बात सुन कर वह प्रसन्न हो गया। उसकी वीरता की जो उपमा मैंने दी थी, उससे भी वह प्रभावित जान पड़ा। उसने इठला कर बड़े चाव से कहा—"मैं, अच्छा...अच्छा राजा हूँ न ?"

हूँ ?—कह कर मैंने हँस दिया था। पर उसी समय मैंने उसे समझाया—तुम तो राजा हो ! फिर ? अभी दोपहर में जाकर सो रहो। अब शाम को हम

तुम दोनों मिल कर बढ़िया कपड़े पहन कर टहलने चलेंगे। यह है न अच्छी-सी बात? और वहाँ से खिलौने भी लायेंगे।

अब की मुन्नू सब बातें चुपचाप सुनता रहा। राजा ही की तरह सब समझना भी चाहता था। पर, अभी उसके दिल में इसकी सार्थकता न रही होगी! और फिर इस प्यार के बीच मेरे हृदय को असुविधा का छल वह छोटा-सा बच्चा कहाँ समझता? उसने सम्पूर्ण कथन को जैसे सुना ही नहीं। झट बोल उठा—और बच्चा?

मुझे हँसी आ गई। इस नन्हें-से बच्चे के मन में कैसा छोटा-सा एक सात्विक गर्व है! फिर भी गर्व की इयत्ता ही कितनी? वह अपने छोटे कीड़े से भाई को एकदम अपदार्थ गुन रहा है। उस हँसी को तो मैं पी गया। ठीक समझदार आदमी की तरह, गम्भीरता से, मैंने उसका समर्थन किया।—वह तो रोता है। तुम-सा राजा तो है नहीं! वह भला हम सब के साथ चलने लायक है?

मुन्नू का हृदय हर्षातिरेक से भर गया। यद्यपि उसे अपने बड़प्पन की गरिमा का यथार्थ बोध आश्चर्यान्वित भी किये था। उसका मुँह खुल पड़ा था। वे छोटे-छोटे दाँत अपनी कतारों में हँसी छिपाये चमक रहे थे। मैंने फिर मौका पाकर कहा—तो जाओ मुन्नू, अब सो रहो।

अब की वह सकपकाया। कुछ उठने की भी चेष्टा की। तब तक उसकी दृष्टि पड़ गई मेरे कैलेण्डर पर। वह खूब ठहाका मार कर एक बार फिर हँसा। अरे यह क्या......? प्रश्न के साथ ही अपने आश्चर्यान्वित मुँह की रेखाएँ बिगाड़ कर उसने उसे बुढ़िया के भाव प्रदर्शित करने के उपयुक्त कर लिया। उसने उस व्यंग्य ही में मेरी ओर देख कर उत्तर माँगा।

उसके देखने के साथ ही मेरी दृष्टि उस कैलेण्डर पर पड़ गई। मेरी कुर्सी की बगल में टेबिल की बगलवाली दीवार पर एक लाइफ इन्श्योरेन्स सोसायटी का कैलेण्डर टँगा है। चित्रकार ने उसमें किसी महाराष्ट्र के कमरे का चित्र अंकित किया है। उस गरीब के घर में सिवा एक गान्धीजी के चित्र और कुर्सी-टेबिल के कुछ भी नहीं। वह एक कुर्सी पर बैठ कर अपने बीमे का सार्टिफिकेट देख रहा है। प्राप्य धन की प्रसन्नता में अपने आजन्म की भ्रान्ति को खो कर वह गलित-पलित दन्तहीन बुड्ढा जैसे पहले-पहल हँसा है। वह जैसे अँधेरी रात्रि के बीच चन्द्रमा के प्रकाश में आ गया है। उसकी बुढ़िया भी उसके कन्धों पर हाथ रख कर उस सार्टिफिकेट को सतृष्ण नयनों से देख रही है। दोनों के

मुख की स्निग्ध, प्रसन्न और सात्विक हँसी उस चित्र की जान है। पर, मुन्नू ने तो केवल उसके वृद्धत्व का रस लिया। उसने व्यंग्य किया। अपनी विजय की किलकारी से सब कुछ गुँजा दिया। उसने पूछा—अरे, यह क्या ?

मैंने मुस्करा कर कहा—अरे, हाँ मुन्नू ! यह तो बुढ़िया है।

—मैं जानता था कि उसके कोष में इस शब्द का विशेष अर्थ है।

"यह क्या करती है ?"—उसने पूछा।

शायद वह कुछ वैसी ही बात सुनना चाहता होगा। मुझे एक चाल सूझ गई। विनोद के लिये तो अच्छी ही थी। किन्तु उससे तो मुन्नू का यह मिलना ही मेरे मन में अन्त तक के लिये एक सुखद-स्मृति बन गया है।

मैंने गम्भीर बन कर कहा—"मेरी रखवाली करती है।"

उसने समझा नहीं। इसलिये फिर हँस कर पूछा—"क्या ?"

तुम नहीं समझे ? अब की मैंने उसे समझाया। जब मैं नहीं रहता या मैं सोता रहता हूँ, उस समय यदि कोई यहाँ आ कर शरारत करे और करे तो तुम जानते हो यह क्या करेगी ? मैंने जरा रुक कर उसकी ओर देख कर कहा—यह उसे पकड़ रखेगी।

मुन्नू कुछ सोच में तो जरूर पड़ गया। पर हँसा। जैसे वह इस तथ्य को समझता है। पर, यह बात उसे बुरी मालूम हुई। और फिर मुझे मुन्नू के अधिकार की रक्षा करके ही जैसे यह बात कहनी चाहिये थी। इसीलिये उसने पूछा—सबको ?

और क्या ?—मैंने कहा—यह क्या किसी से डरती है ?

"हमको भी पकड़ेगी ?" अब की उसने उसे स्पष्ट करना चाहा। उसके मुख पर इसकी समीक्षा थी।

तुम तो शरारत करते नहीं मुन्नू ! मैंने उसे याद दिलाया—तुम तो राजा हो !

मुन्नू को धैर्य मिल गया। और उसका अधिकार भी स्पष्ट। उसने एक सन्तोष की साँस ली और जैसे पूरा प्रसन्न हो कर बैठ गया।

अब मैं उठा। उससे मैंने कहा—अच्छा अब जाओ सो रहो। तब न चलेंगे शाम को टहलने।

वह सीधे मेरे आँगन की ओर निकल भागा। मैं भी बिस्तरे पर आकर नींद

बुलाने के लिए पत्रिका के पन्ने उलटने लगा। उस बंद कमरे में दिन का धूमिल प्रकाश मेरे सोने और पढ़ने दोनों के लिए अनुकूल था।

चार-छः-दस मिनट और बस। उसका कहीं मन न लगा। वह जिस सम्मान, मित्रता-पूर्ण प्रेम और अधिकार का उपभोग कर गया था उससे चोखा रंग तत्काल कोई चढ़ा कैसे पाता ? वह स्वतन्त्र वायु की लहरों की भाँति घूम पड़ा। वह मेरे कमरे के भीतरी दरवाजे के पास आ गया। कुछ बोला नहीं, पर किवाड़ जरा-सा जरूर हटाया। उसकी चीं...इं की आवाज और बस। वह हट गया। अपने सोने में बाधा पड़ने से मैं शायद बिगड़ूँ; उसने सोचा होगा। तभी चुप रह गया।

मुझे ऐसे नींद तो आती नहीं। उसे बुलाना ही पड़ता है। अपने उड़ने वाले मस्तिष्क को थका देने के लिए पढ़ने की कवायद करनी पड़ती है। सो तो अभी पूरी नहीं हुई थी। मेरे मन में उसकी हर एक हरकत जाग्रत होने लगी। वह अभी वहीं खड़ा है। ठीक दरवाजे के पास। वह जैसे मेरी आहट ले रहा है। मुन्नू......मुन्नू......! लो शशी भी आ गई। धम......धम......अब दोनों—मुन्नू और शशी—पास-पास खड़े थे।

शशी फिर कुछ बोलना चाहती रही होगी। वह सन्देह में कैसे रहती। पर उसे मुन्नू ने रोका। चुप रह रे शशी। उसने गला दबा कर, जैसे और कोई न सुने, और धीरे से कहा। क्योंकि वह तो उस समय जैसे किसी गूढ़ व्यापार में लगा था।

शशी तो अद्भुत चंचल लड़की है। उससे कैसे रहा जाता !

फिर उसने पूछा ही—क्या है मुन्नू ?

इसमें बुढ़िया है। मुन्नू ने फुसफुसा कर, पर उत्तेजित स्वर में कहा—तू मानेगी नहीं ? उसने बड़े की तरह डाँटा। पर उसका उसके मन में जैसे कोई भय ही नहीं।

पर, शशी ने माना नहीं। उसकी बात खतम होते-न-होते वह उसमें झाँकने के लिए दरवाजा खोल कर बढ़ी। पर मुन्नू ने खींच कर कहा—अरे, दादा सोते हैं ! मार खायगी ? उसने एक और भय बतलाया। तब तक उसने झाँक ही लिया। कहा—बुढ़ियाँ कहाँ है ?

मैं चुपचाप इसी फुसफुस को सुन रहा था। मुझे बड़ी हँसी आई। पर, मैं

बोला नहीं। मुन्नू अपनी निर्भयता दिखला कर पूछ रहा था—तू देखेगी बुढ़िया ? ...अच्छा।

वह बहुत सजग होकर भीतर घुसा। शायद उसे मेरा भी ख्याल रहा हो ! पर मैं तो ईजीचेयर की आड़ में था ? शशी को मेरी बात याद ही नहीं रही। वह मुन्नू से पहले ही जानती थी कि यहाँ कुछ नहीं है।

क्षण भर के लिए मुन्नू रुका। इधर-उधर देख कर उसने उसे जैसे बेवकूफ बनाकर कहा—देखेगी ? देख ! उसने मेरी वहाँ पड़ी हुई छड़ी कैलेण्डर की तरफ बढ़ा दी।

अब शशी के लिए असह्य हो गया। उसने कहा—यह तो तस्वीर है ! तुम इसी से डरते रहे मुन्नू ! वह उसे उतारने के लिये बढ़ी। खींच भी लिया।

"शशी !" मुन्नू धीरे-से चिल्लाया। जैसे वह कहना चाहता था कि तू तो है बेवकूफ ! पर उत्तेजना में उससे तर्क न किया गया। उसने झटके से उसे छीन लिया। और समझे ? उसने उस कैलेण्डर को फाड़ कर क्रोध से शशी के ऊपर फेंक दिया। वह जैसे सचमुच उसे झुठला रहा था।

शशी डरी नहीं। वह हँसी। मुन्नू भी अपने को रोक न सका। एक साथ दोनों हँस पड़े !

अपनी ही हँसी से दोनों जैसे जाग गये। मेरी सुधि आ गई होगी। बिना रुके, वे भाग गये।

तब से शशी तो एकाध बार दिखलाई भी पड़ गई है; पर मुन्नू तो जैसे मेरी दृष्टि से बचता रहता है।

लेखकों के परिचय

जयशङ्कर 'प्रसाद'

(जन्म—१८८९ मृत्यु—१९३७ ई०)

काशी के एक प्रतिष्ठित और धनी वैश्य घराने में प्रसाद जी का जन्म हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर तथा क्वींस कालेज में ८ वें दर्जे तक हुई। १२ वर्ष की अवस्था में पिता की मृत्यु हो जाने से स्कूल की पढ़ाई छूट गई। इन्होंने बड़े भाई के संरक्षण में घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त किया।

इनके घर पर समस्या पूर्ति करने वाले कवियों का जमघट लगा रहता था। इस मण्डली के प्रभाव से बाल्यकाल से ही कविता के प्रति इनकी रुचि जागृत हो गई। यह १५ वर्ष की अवस्था में दूकान पर बही खाते के रद्दी कागज पर कविताएँ लिखा करते थे। प्रसाद जी के जीवन में ही उनके ८ कविता-संग्रह, ६ नाटक, २ उपन्यास और ५ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। उनके निबन्धों का एक संग्रह उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद प्रकाशित हुआ तथा एक अधूरा उपन्यास भी कुछ काल बाद प्रकाशित हुआ। प्रसाद जी एक नये साहित्यिक युग के निर्माता ही नहीं थे, एक नई विचार शैली और नव्य दर्शन के उद्भावक भी थे। उन्होंने उदात्त और शक्तिशाली भावनाओं तथा जीवनमय चरित्रों का निर्माण अपने साहित्य में किया है।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'

(जन्म १८६१ ई०)

कौशिक जी का जन्म अम्बाला छावनी में एक साधारण स्थिति के कौशिक गोत्रीय आदि गौड़ वंश में हुआ। पिता फौज में स्टोर कीपर थे। जब आपकी

अवस्था चार वर्ष की हुई, तब आपके एक बाबा ने, जो कानपुर में वकालत करते थे और निस्संतान थे आपको अपना दत्तक पुत्र बना लिया। आपने स्कूल में मैट्रिक तक शिक्षा पाई। स्कूल में फ़ारसी और उर्दू पढ़ी, हिन्दी तथा संस्कृत का ज्ञान घर पर अर्जित किया। उर्दू में 'रागिव' के उपनाम से कविता भी करते थे। इनका हिन्दी में लिखने का क्रम १९११ से आरम्भ हुआ। स्व० महावीर-प्रसाद द्विवेदी से जब प्रथम बार भेंट हुई तो उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी रुचि किस ओर है ?' उत्तर मिला, 'कहानी उपन्यास की ओर।' तब उन्होंने कहा, 'तो वही लिखा करो।' १९१२ में 'सरस्वती' में पहली कहानी 'रक्षाबन्धन' छपी। अब तक आपके ५ कहानी-संग्रह तथा दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। हास्य-रस के कुछ सुन्दर पत्र 'विजयानन्द दुबे' के नाम से आपने लिखे हैं। 'दुबे जी का चिट्ठा' नाम से कुछ पत्रों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। कौशिक जी एक बंगला उपन्यास तथा एक बँगला नाटक का अनुवाद भी कर चुके हैं। ३ संकलन ग्रन्थ भी हैं।

चतुरसेन शास्त्री

(जन्म—१८८१)

शास्त्रीजी का जन्म स्थान देहली है। साहित्य के साथ ही आपने वैद्यक का भी घनघोर अध्ययन किया। आपने व्यवसाय के रूप में वैद्यक को अपनाया। फलतः देहली और वम्बई तथा अनेक रजवाड़ों में आपकी इस विद्या का अच्छा चमत्कार दिखाई पड़ा। अब आप जमकर देहली के निकट शाहदरे में रहते और अपना यह व्यवसाय भी करते हैं।

व्यवसाय की दृष्टि से वैद्यक को भले ही शास्त्रीजी ने अपनाया है और सफलता भी प्राप्त की है पर साहित्य के क्षेत्र में तो आप 'लौह लेखनी' के धनी माने जाते हैं। आपके साहित्य में अद्भुत प्रवाह, ओज और लालित्य है। विषय की विविधता भी आपकी विशेषता है। कहानियाँ, उपन्यास, वैद्यक के ग्रन्थ, गद्य काव्य, आदि बहुत कुछ आपने लिखा है। अनेक मासिक पत्रों के विशेषांकों का भी आपने अत्यन्त योग्यतापूर्वक सम्पादन किया है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

(जन्म—१८८३, मृत्यु—१९२२ ई०)

गुलेरी जी का जन्म जयपुर के एक समृद्ध घराने में हुआ। आपके पिता

पंडित शिवराम शास्त्री जयपुर संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे और अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान् थे। चन्द्रधरजी का विद्यार्थी-जीवन बहुत गौरवपूर्ण रहा। सोलह वर्ष की अवस्था में प्रयाग विश्वविद्यालय की एन्ट्रेंस परीक्षा पास की और उसमें सर्वप्रथम रहे। कलकत्ता युनिवर्सिटी की एन्ट्रेन्स परीक्षा में भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। १९०४ में प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा पास की और उसमें सर्वप्रथम रहे। इसी वर्ष मेयो कालेज, अजमेर में संस्कृत के प्रधान अध्यापक नियुक्त हो गये। १९०४ से १९०७ के बीच बहुत से लेख लिखे, जिसके फलस्वरूप इनकी पुरातत्त्व, भाषातत्त्व, प्राचीन इतिहास, संस्कृत, वैदिक संस्कृत, पाली तथा प्राकृत के श्रेष्ठ विद्वानों में गणना होने लगी। इनका 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक लेख ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्व का है। आप १९२० में हिन्दू युनिवर्सिटी बनारस में कालेज आफ ओरियन्टल लर्निंग एण्ड थियोलॉजी के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। आपने ३ कहानियाँ ही लिखी थीं। इनमें से 'सुखमय जीवन' १९११ में 'भारतमित्र' में छपी थी। दूसरी कहानी 'बुद्धू का काँटा' है। 'उसने कहा था' अक्टूबर १९१५ की 'सरस्वती' में छपी थी। आपकी यह तीन कहानियाँ ही आपको कथा साहित्य में अमर करने को पर्याप्त हैं।

प्रेमचन्द

(जन्म—१८८० मृत्यु—१९३६ ई०)

प्रेमचन्द जी का जन्म जिला बनारस में हुआ था। पिता डाकखाने में क्लर्क थे। इनकी अवस्था जब ५—६ वर्ष की थी तभी माता का देहान्त हो गया। १४ वर्ष की अवस्था में पिता का भी देहान्त हो गया। दसवाँ दर्जा पास करने के बाद एक स्कूल में १८ रु० मासिक पर अध्यापक हो गए। प्राइवेट इम्तहान देकर बी० ए० पास किया। उन्नति करते-करते स्कूलों के सब डिप्टी इंस्पेक्टर हो गए। कहानियाँ और उपन्यास पढ़ने का चाव स्कूली-जीवन से ही था। आपकी पहली कहानी १९०७ में "संसार का सबसे अनमोल रत्न" उर्दू के 'जमाना' में छपी। प्रारम्भिक कहानियों में स्वदेश-प्रेम की महिमा गाई गई थी, इससे अधिकारी-वर्ग के कोपभाजन भी हुई। हिन्दी में पहली कहानी १९१६ में 'सरस्वती' में छपी। १९१९ के असहयोग आन्दोलन के समय सरकारी नौकरी आपने त्याग दी। आपने २५०-३०० कहानियाँ और लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे हैं। कथा-साहित्य में युगांतर उपस्थित करने का श्रेय आपको ही है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के उन्नायकों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सुदर्शन

(जन्म १८९६ ई०)

असली नाम बदरीनाथ है, पर साहित्य के क्षेत्र में सुदर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। सुदर्शनजी का जन्म सियालकोट, पंजाब में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ। आपने बी० ए० तक शिक्षा पायी है। साहित्य की ओर आपकी रुचि बाल्यावस्था से है। जब छठवें दर्जे में पढ़ते थे तब आपने उर्दू में पहली कहानी लिखी थी। प्रेमचन्द्र की तरह आप भी उर्दू के ख्यातिप्राप्त लेखक बन चुकने पर हिन्दी में आये। हिन्दी में आपकी सबसे पहली कहानी १९२० में सरस्वती में छपी। अपनी स्वाभाविक तथा मनोरंजक कहानियों तथा सरल एवं लालित्यपूर्ण भाषा से आपने शीघ्र हिन्दी कहानी के पाठकों के हृदय में अपना स्थान बना लिया। लोकप्रियता की दृष्टि से कहानी लेखकों में प्रेमचन्द के बाद आपका ही नाम लिया जाता है। अब तक आपकी कहानियों के पाँच संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। आपने 'भगवन्ती' नाम से एक उपन्यास तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' नाम से एक प्रहसन भी लिखा है।

उग्र

(जन्म—१९०१ ई०)

असली नाम पाण्डेय बेचन शर्मा है, पर साहित्य के क्षेत्र में 'उग्र' नाम ही प्रसिद्ध है। उग्रजी का जन्म चुनार, जिला मिर्जापुर में एक साधारण ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा काशी में हुई। बचपन से ही आपकी रुचि पढ़ने-लिखने की ओर अधिक थी। फिर भी असहयोग के जमाने में आपने स्कूल छोड़ दिया। आपकी बुद्धि बचपन से ही प्रखर थी। आपकी पहली कहानी १९२० में 'आज' में छपी थी। हिन्दी में आपकी रचनाओं को लेकर जितना वाद-विवाद हुआ, उतना सम्भवतः इधर के किसी लेखक को लेकर नहीं हुआ। कुछ लोग आपकी रचनाओं को अछूत की भाँति अस्पृश्य मानते हैं, परन्तु जिन्होंने पक्षपात का चश्मा नहीं चढ़ा लिया है, वे मुक्त-कण्ठ से यही स्वीकार करते हैं कि आपकी लेखनी में जोर है, आपकी लेखन-शैली हिन्दी-साहित्य में सर्वथा अनूठी है तथा आपकी रचनाएं साहित्य की शोभा बढ़ानेवाली हैं। आपने कहानी के अलावा सफल नाटक, प्रहसन और उपन्यास भी लिखे हैं।

वृन्दावन लाल वर्मा

(जन्म—१६४७ वि०)

वर्माजी का जन्म झाँसी के मऊरानीपुर ग्राम में हुआ। कथा साहित्य का बीज उनके मन में उनकी परदादी का वोया हुआ है जो रोज रात्रि में उन्हें कहानियाँ सुनाया करती थीं। घर भर के दुलारे होने पर भी उनकी शिक्षा का अच्छा प्रवन्ध हुआ। शिक्षा के क्रम में ये वकील बने और वकालत की भी। यद्यपि वकालत को वे आज तक अपना प्रिय व्यवसाय नहीं वना सके। वर्माजी को मिहनत से प्रेम है। भले ही वह शिकार में, कसरत में, खेती में, या लिखने में मिले वह जो कुछ करते हैं लगन से, मिहनत से करते हैं, ईश्वर की कृपा से आज भी उनका शरीर पुष्ट है और मन नवयुवकों-सा ऊर्ध्वगामी है। उन्हें कई भाषाओं और अनेक विषयों का पूर्ण ज्ञान है।

वर्माजी को लड़कपन से ही लिखने का चस्का था। हालांकि उस समय वे खुलकर सामने नहीं आये। बीच-बीच में वे लिखते रहे हैं और उनकी चीजों के प्रति लोगों का ध्यान जोरों से खिचता रहा है। इधर ८-१० वर्षों से तो वे डट कर लिखते रहे हैं। वर्माजी ने अपेक्षाकृत कहानियाँ कम लिखी हैं। उपन्यास और नाटक आपने खूब लिखे हैं। आपके उपन्यासों की अत्यन्त प्रशंसा हुई है और वे बराबर पुरस्कृत हुए हैं। आपकी यहाँ दी हुई कहानी तो फ्रेंच भाषा में भी अनुदित हुई हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

(जन्म—१८६६ ई०)

वाजपेयी जी का जन्म कानपुर के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपने हिन्दी मिडिल तक शिक्षा पाई। मिडिल पास करने के बाद आप अपने गाँव की ही अपर प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक हो गए। परन्तु आपको इस जीवन से संतोष नहीं था, इसलिए कानपुर चले गए। वहाँ होमरूल लीग की लाइब्रेरी में लाइब्रेरियन हो गए। इसी समय इन्हें हिंदी-साहित्य का अध्ययन करने का अवसर मिला और लिखने की प्रेरणा भी उत्पन्न हुई। यह १६१७ की बात है। उस समय प्रायः आप कविताएँ लिखा करते थे। फिर जीवन के कटु अनुभवों ने आपको गद्य लिखने के लिए प्रेरित किया १६२४ में पहली कहानी 'माधुरी' में छपी। अब तक लगभग तीन सौ कहानियाँ, १० उपन्यास, एक नाटक

तथा १५ विविध-विषयक अन्य छोटी-मोटी पुस्तकें लिख चुके हैं। आपकी कविताओं का एक संग्रह भी हाल में प्रकाशित हुआ है। चोटी के कहानी-लेखकों में आपका अपना स्थान है। आपकी शैली से प्रभावित आज दिन हिन्दी के अनेक कहानी-लेखक देखे जाते हैं।

भगवतीचरण वर्मा

(जन्म—१९०३ ई०)

आपका जन्म सफीपुर, जिला उन्नाव में हुआ। आपने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० और एल-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। कानपुर में आप जब सातवें दर्जे में पढ़ते थे तभी कुछ कविताएँ 'प्रताप' में प्रकाशित हुई थीं। उस समय आपकी अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी। १९२१ में आप की पहली कहानी 'हिन्दी मनोरंजन' में प्रकाशित हुई, परन्तु इस समय आपका ध्यान कविता लिखने की ओर अधिक रहा और आपका यश भी कवि के रूप में ही पहले पहल फैला। अब तक आपकी कविताओं के चार संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। १९३१ में आपने कहानियाँ लिखने की ओर फिर ध्यान दिया और शीघ्र ही कहानी-लेखकों में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया। इनकी कहानियों के दो संग्रह 'इंस्टालमेंट' और 'दो बाँके' नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। अब तक आप के तीन उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं।

महादेवी वर्मा

(जन्म—१९०७ ई०)

आपका जन्म फरुखाबाद में एक प्रतिष्ठित घराने में हुआ। आपने १९३३ में संस्कृत में एम० ए० पास किया और उसी वर्ष प्रयाग-महिला-विद्यापीठ में प्रिंसिपल नियुक्त हो गईं। आपके नाना व्रजभाषा के अच्छे कवि और भक्त पुरुष थे। माता हिन्दी कविता की विदुषी तथा उपासक थीं। तुलसी, सूर और मीरा की रचनाओं का परिचय आपको पहले-पहल माता ही से प्राप्त हुआ। पहले व्रजभाषा में कुछ कविताएँ लिखीं; परन्तु शीघ्र ही श्री मैथिलीशरण गुप्त की खड़ी बोली की कविताओं से प्रभावित होकर आपने भी खड़ी बोली में कविताएँ लिखना शुरू कर दिया। आधुनिक हिन्दी कवियों में इन्होंने जितनी लोकप्रियता प्राप्त की है, उतनी बहुत कम कवियों को प्राप्त हुई है। यह बात शायद बहुत कम लोगों को मालूम है कि गद्य के ऊपर भी आपकी लेखनी का उतना ही अधिकार है,

जितनी पद्य पर। समय-समय पर आप संस्मरण के रूप में कुछ रेखा-चित्र लिखती रही हैं, जिन्हें हम तो कहानी भी मानेंगे। आपके इन रेखा-चित्रों का संग्रह 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखायें'—नाम से प्रकाशित हुआ है।

जैनेन्द्रकुमार

(जन्म—१९०५ ई०)

जन्म कौड़ियागंज, अलीगढ़ में एक मध्यम श्रेणी के परिवार में हुआ। पिता का देहान्त बाल्यावस्था में ही हो गया तब माता ने लालन-पालन किया। सातवीं श्रेणी तक जैन-गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम, हस्तिनापुर में शिक्षा पाई। तदनन्तर प्राइवेट रूप से मैट्रिक पास किया। इसके बाद काशी जाकर हिन्दू-विश्वविद्यालय में नाम लिखा लिया, पर सेकेण्ड इयर तक पहुँचकर पढ़ाई छूट गई। महात्मा गांधी के असहयोग-आंदोलन में जेल-जीवन का अनुभव किया। जेल में ही लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। पहली कहानी 'खेल' १९२८ में 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। इसी समय पहला उपन्यास 'परख' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की एक विशेषता यह थी कि इसमें साहित्य में प्रचलित तथा शब्दों के स्थान पर बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है। हिन्दुस्तानी एकाडेमी, प्रयाग ने इस पर ५०० रु० का पारितोषिक प्रदान किया है। अब तक आपके पाँच उपन्यास तथा पाँच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

(जन्म—१९०६ ई०)

आपका जन्म पश्चिमोत्तर पंजाब के एक गाँव कोटअद्दू में हुआ। शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी, हरिद्वार में आपने प्राप्त की। आपकी १९२८ में पहली कहानी 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई। अब तक 'चंद्रकला', 'भय का राज्य' तथा 'अमावस' नाम से तीन कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। अब से ५-६ वर्ष पूर्व आपने हिन्दी-कहानियों के विकास पर एक आलोचनात्मक लेख 'विशाल भारत' में लिखा था। इस लेख ने उन सब कहानी लेखकों का, जिनकी इसमें आलोचना की गई थी, ध्यान आकर्षित किया और पत्र-पत्रिकाओं में काफी चर्चा रही। आपके इसी लेख को ध्यान में रखकर एक आलोचक ने लिखा है कि आप में कहानी-लेखक होने की अपेक्षा कहानी के समालोचक होने की प्रतिभा अधिक है। परन्तु यहाँ जो कहानी दी जा रही है इससे सिद्ध होता है कि आप सुन्दर

कहानी लिखते हैं। कहानियों के अलावा आपने नाटक तथा एकांकी नाटक भी लिखे हैं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

(जन्म—१९१० ई०)

आपका जन्म जालंधर (पंजाब) में हुआ है। प्रारम्भिक शिक्षा भी वहीं पाई। १९३१ में बी० ए० की परीक्षा पास की और जालंधर के अपने स्कूल में अध्यापक हो गए। पर शीघ्र ही उस जीवन से ऊब कर लाहौर चले आए। वहां कई उर्दू के पत्रों तथा पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभाग में काम करते रहे। जब कालेज में पढ़ते थे, तभी उर्दू कहानियों का एक संग्रह 'नौरतन' प्रकाशित हो चुका था। १९३३ में उर्दू कहानियों का एक दूसरा संग्रह भी प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष हिन्दी में पहली कहानी 'हंस' में छपी। यह कहानी प्रेमचन्दजी को बहुत पसंद आई और इससे उत्साहित होकर हिन्दी में भी आपने कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दिया। १९३४ में समाचार-पत्रों की नौकरी छोड़कर कानून पढ़ने लगे, परन्तु कानून की डिग्री लेने के बाद भी प्रेक्टिस नहीं की। साहित्य-सेवा में ही लगे रहें। अब तक आप सौ से अधिक कहानियाँ लिख चुके हैं। कहानियों के अतिरिक्त आपने एकांकी नाटक तथा उपन्यास भी लिखे हैं। आपकी कविताओं के भी दो संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

नरेश मेहता

(जन्म— १५ फरवरी १९२२ ई०)

आज के शीर्षस्थ कवि-कथाकार श्री नरेश मेहता का जन्म शाजापुर, मालवा में हुआ। काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी) के बाद लगभग छह वर्ष तक आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों पर कार्य किया। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के सन् '४२ के आन्दोलन में सन् '५५ तक राजनीति में सक्रिय रहे। 'कृति' जैसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक मासिक का प्रकाशन एवं सम्पादन किया। गत बीस वर्षों से प्रयाग में रहकर स्वतन्त्र लेखन करते हैं। साहित्य की सभी विधाओं की लगभग तीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। विभिन्न प्रदेश सरकारों द्वारा सम्मानित एवं पुरस्कृत।

अपनी भाषा, शैली एवं रचना-दृष्टि के कारण आज के साहित्य में सर्वथा अपांक्तेय लेखक।

ममता कालिया

(जन्म—२ नवम्बर १६४० ई०)

ममता कालिया का जन्म १६४० ई० में हुआ। आपने दिल्ली विश्वविद्यालय से एम० ए० (अंग्रेजी) की परीक्षा उत्तीर्ण की। दिल्ली व बम्बई विश्वविद्यालय से सम्बद्ध अनेक कॉलेजों में अध्यापन कार्य किया। इस समय आप महिला सेवा सदन डिग्री कॉलेज इलाहाबाद में प्रधानाचार्या के पद पर कार्य कर रही हैं।

आपने हिन्दी साहित्य को अनेक उपन्यास तथा कहानी संग्रह प्रदान किये। उपन्यासों में 'बेघर' तथा 'नरक दर नरक' अत्यन्त रोचक उपन्यास हैं। 'सीट नम्बर छह' तथा 'छुटकारा' कहानी संग्रह लिखे हैं।

वाचस्पति पाठक

(जन्म—१६०५ ई०)

जन्मस्थान—नवाबगंज, काशी। घर पर शिक्षण। आरम्भ से साहित्य-प्रेमी। लेखकों और कवियों के निरन्तर सम्पर्क और उनकी रचनाओं के आस्वादन से स्वयं रचना करने की इच्छा का उदय। पहले अर्से तक कविताएँ लिखीं। बाद में कहानियाँ। कहानियाँ रह गई हैं—दो संग्रह 'द्वादशी' और 'प्रदीप' प्रकाशित हैं, कविताएँ अतीत के गर्भ में समा गईं। कौन जाने; कहानियों का भविष्य क्या ? मेरा उनके विषय में कुछ कहना न उचित है, न प्रासंगिक। केवल इतना कि वे मुझे बहुत प्रिय हैं और ईमानदारी के साथ अच्छी लगती हैं। हिन्दी ने भी उन्हें अपनाया है। बस।

